अध्याय-एक

आचार्य प्रवर का दर्शन एवं जीवन-बोध :

- **जीवन**
  - (क) पारमार्थिक सत्ता का स्वरूप
  - (ख) जीव
  - (ग) जगत
  - (घ) विरोध स्वरूप
  - (ड) उदात्त चेतना के अन्तःस्वर एवं समसामयिक संदर्भ
- **जीवन-बोध**

1

आचार्य विद्यासागर का ज़ीवन

पृष्ठभूमि -

इस भारत भूमि पर अनेक-संत, ऋषि, मुनि और आचार्यों ने अपनी साधना और तपश्चर्या से प्राप्त ज्ञान के द्वारा इस धरित्री के लोगों का कल्याण किया है, उनकी सतत् साधना और ज्ञान के अक्षय भण्डार से यह सृष्टि आलौकिक ज्ञान के चमत्कार से चमत्कृत हुई है। इन संतों ने अपने जीवन के शाश्वत् अनुभवों के द्वारा जिस निचोड़ को अपनी अमृतमयी वाणी के द्वारा आम आदमी तक पहुँचाया है उससे समाज में असाधारण परिवर्तन की संभावना दृष्टिगोचर हैं। इन्होंने आत्मसाधना के द्वारा लोककल्याण के साथ-साथ जीवन को निर्जर और निरापद-बनाने के लिए जिन मूल्यों की वकालत की है वह अपने आप में काफी महत्वपूर्ण है। इनके त्याग, साधना, वैराग्य, सिद्धांत और संतत्व की महिमा में आज भी जीवन की सुख-शांति विद्यमान है। आज के इस विसंगतिपूर्ण वातावरण में अपने ज्ञान, चारित्र्य, साधना, चर्या और सतत संदेशों के माधयम से अहिंसा के संदेश को जन जन तक पहुँचाकर श्रमण संस्कृति की पताका को शिखर ऊँचाई तक ले जाने में जिन्होंने भगीरथ प्रयत्न किया है और सतत् रूप से संलग्न हैं ऐसे दिव्य, परम तपस्वी, अथाह ज्ञानी, सागर की तरह गंभीर और आगमोक्त चर्चाओं में रत निर्बाध रूप से ज्ञानामृत का पान कराने वाले आचार्य विद्यासागर इस घड़ी के एक ऐसे आचार्य, संत, ज्ञानी, तपस्वी, साधक, रचनाकार और सच्चे साधु हैं। जिन्हें जैन जैनेतर अर्थात् सभी वर्गो के लोग अपना मस्तक झुकाकर उनका आशीष लेने के लिए लालायित रहते हैं। ऐसा सजग प्रहरी जिसने जन जन की चेतना को झकझोरा हो, विश्वकल्याण की कामना से अपने प्रवचनों को संवारा हो, जीवन मूल्यों को सजग बनाने के लिए अपनी रचनाओं को ताने बाने बुने हों। जीवन की सारी सरसता जिन्होंने मानवता के कल्याण के लिए न्यौछावर कर दी हो ऐसे उस युग पुरुष की जितनी प्रशंसा की जाये कम है। उनके व्यक्तित्व को प्रतिबिम्बित करने वाली ये पंक्तियों काफी कुछ सार्थक जान पड़ती हैं -

''चराचरों से मैत्री रखते, कभी किसी से बैर नहीं।?
निलय दया के बने हुए हैं; नियमित चलते स्वैर नहीं''[1]

संसार के समस्त प्राणी मात्र जिनके स्नेह के पात्र बन जायें। जो समस्त जीवों के प्रति दयाभाव धाारण कर ईर्ष्यां और द्वेषभाव से विरत हो जायें। जिनके अन्त:करण में करूणा का सागर सदैव हिलोरें मारता रहे, जिन्होंने सर्वस्व का परित्याग कर इन्द्रियों को अपने वश में कर लिया हों, जो पक्षियों

की तरह स्वच्छन्द रूप में वन विहार के लिए निकल पड़े हो, जो काव्य की तरह उत्प्रेरक और आनंद के प्रदाता हों, जिनके व्यक्तित्व का चुम्बकीय आकर्षण लोगों को स्तब्ध बना देता हो, ऐसे असाधारण व्यक्तित्व को शब्दों में बांधकर डॉ. आशालता मलैया ने कुछ इस प्रकार से कहा है- संवेदनशील, कमलवत, उज्जवल एवं विशाल नेत्र, समुन्नत ललाट, सुदीर्घ कर्ण, अजानबाहु, सुडौल नासिका, स्वर्ण सदृश गौरवर्ण, चुम्बकीय आभा से युक्त कपोल, माधुर्य और दीप्ति से युक्त मुख, लम्बी सुंदर अँगुलियाँ, पाटलवर्ण की हथेलियाँ, सुगठित चरण आचार्य विद्यासागर, के सुदर्शन व्यक्तित्व को और अधिक गौरव मण्डित कर देते हैं।''[2]

आचार्य विद्यासागर ज्ञान के अपरिमित भण्डार काया से सुदर्शन, और वाणी में आलौकिक आकर्षण से युक्त एक ऐसे साधु हैं जिनकी प्रतिभा नाना रूपों में आलौकिक करतब दिखाती है। उनके व्यक्तित्व को दर्शाने वाली काव्य पंक्तियाँ मुझे काफी अच्छी लगीं जो इस प्रकार हैं -

''जाति-पांति का ऊँच-नीच का,
भेद न जिसने पहचाना।
मानव सेवा रत जीवन ही
सर्वोपरि जिसने माना।''[3]

'आत्मा' के स्वरूप को जानने की लालसा में अनवरत् संलग्न, मौनप्रिय निर्गन्ध सच्चे अर्थों में आगमोक्त अनुशासन की दृढ़ता में सदैव अपने शिष्यों के साथ निरत रहते है। जिनकी दिव्यध्वनि को श्रवण करने के लिए श्रावक स्वयं साधक बन जाता है और उनके शब्दों को अन्तर में उतारकर अपने जीवन का कायाकल्प करने के लिए आतुर हो उठता है। विश्वमंगल और लोककल्याण की भावना से जिनका चिंतन सदैव चलता रहता है। ऐसे साधक जो जिनेन्द्र भक्ति में लीन रहकर स्वयं जिनेन्द्र भक्ति में लीन रहकर स्वयं जिनेन्द्र की पदवी से विभूषित होते रहते हैं। धन्य हैं वह गुरूवर ज्ञानसागर जिन्होंने ऐसी अनुपम सौगात इस धरित्री को प्रदान की जिसने चराचर को झंकृत कर दिया। ऐसे अनूठे और असाधारण व्यक्तित्व के सम्बन्ध में कविवर फूलचन्द्र जी 'मधुर' की पंक्तियाँ निःसंदेह अपने माधुर्य को बिखरने में सक्षम जान पड़ती हैं-

''जिनके जीवन का राग-द्वेष सब रीत गया है,
माया, ममता के भ्रम का कलियुग बीत गया है,
कोई चरणों में फूल रखे या शूल बिछा जावे पथ पर,
दोनों में समता भाव रखें, दोनों के प्रति करूणा के स्वर।''[4]

एकाग्र और गंभीर चिंतन के धनी, अहिंसा के बहुआयामी स्वरूप को रेखांकित करने वाले, रूढ़ियों

और परंपराओं के प्रति अनासक्त तथा कबीर की तरह निस्पृह और फक्कड़, जन-जन की पीड़ा से द्रवीभूत होकर सर्जना का ऐसा सूत्रपात करने वाले आचार्य विद्यासागर जिन्होंने कविता की अतल गहराईयों में उतरकर रसानुभूति के वास्तविक मर्म को जाना और पहचाना हो निःसंदेह काव्यजगत में महाकवि की महिमा से मण्डित होने का दावा करते हैं। यह दावा उनकी वाणी का नहीं विचारों का है, गंभीर सोच और चिंतन का है, अध्यात्मरस के उत्कर्ष का है, शब्द की गरिमा, महिमा और लालित्य का है। वे सच्चे अर्थों में महाकवि है और उनकी 'मूकमाटी' ऐसी अद्‌भुत रचना है जिसने रचनागत के आम पाठकों तक को गहराई से प्रभावित किया है।

व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए अनेक चीजें उत्तरदायी होती है। उसका परिवेश, परिवारिक, वातावरण, संस्कार और प्रारंभिक शिक्षा। ये सारी चीजें उसके प्रारब्ध को पल्लवित और पुष्पित बनाती हैं। क्योंकि अनुकरण के द्वारा बालमन पर जो प्रभाव पड़ता है वह स्थायी और अमिट होता है। अब हम यहाँ पर बालक विद्याधर को मुनि। आचार्य बनने की प्रक्रिया का क्रमबद्ध रूप में विवेचन करेंगे।

जन्म (10 अक्टूबर 1946 ग्राम-सदलगा,जिला-बेलगाँव, कर्नाटक) :-

आचार्य विद्यासागर जी का जन्म कर्नाटक राज्य के बेलगाँव जिला के सदलगा ग्राम में संवत 2003 तद्‌नुसार 10 अक्टूबर 1946 बृहस्पतिवार को अर्धरात्रि के समय एक जैन परिवार श्री मालप्पा की अष्टगे और श्रीमती अष्टगे के घर में हुआ था। आपके बचपन का नाम 'विद्याधर' रहा है। आपकी तीक्ष्ण और कुशाग्र बुद्धि के कारण आपमें नामानुरूप गुण बचपन में ही दृष्टिगोचर होने लगे थे। आपके विद्याधर नाम रखे जाने के पीछे एक आस्तिक धारणा थी तथा आपके जन्म के साथ ही कुछ ऐसी घटनायें घटीं थी जो आपके दिव्य होने के साथ-साथ भविष्य के शुभ संकेत की ओर इंगित कर रही थीं। डॉ0 सुरेश सरल आपनी बहुचर्चित पुस्तक ''विद्याधर से विद्यासागर'' में लिखते हैं कि - ''विद्याधर के जन्म से पूर्व इनके माता-पिता प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी के दिन सदलगा से 18 किलोमीटर दूर एक समाधिस्थल पर जाया करते थे। यह स्थल अक्किवाट नाम से प्रसिद्ध था, इसमें भट्‌टारक श्री विद्यासागर जी की स्मृतियाँ संचित थी। इस महापुरुष के प्रति अनन्य श्रद्धाभक्ति के फलस्वरूप ही इस बालक का अवतरण हुआ, ऐसा अष्टगे दम्पत्ति की धारणा थी फलस्वरूप उन्होंने इस बालक का नाम भट्‌टारक जी के स्मृतियाँ संचित थी। इस महापुरुष के प्रति अनन्य श्रद्धाभक्ति फलस्वरूप ही इस बालक का अवतरण हुआ है ऐसा अष्टगे दम्पत्ति की धारणा थी फलस्वरूप उन्होंने इस बालक का नाम भट्‌टारक जी के नाम पर 'विद्याधर' रख दिया। 'विद्याधर' के गर्भ में आने से अनेक शुभ स्वप्न इनकी माता को दिखाई देने लगे थे। उन्हें स्वप्न में चक्र का आकार उनके कक्ष में रूकना तथा दो ऋद्धिधारी मुनियों को आहार देना भी एक प्रकार से भावी शुभ की सूचना थी। उसी रात मालप्पा जी को स्वप्न आया था कि वे एक खेत में खड़े हैं, जहाँ दहाड़ता हुआ एक सिंह आया और उन्हें निगल गया। यह स्वप्न भी मंगलशुभ का संकेत था। मालप्पा जी के संचित पुण्यों के प्रताप से उनके परिवार

में बालक विद्याधर का अवतरण एक पुण्यात्मा का अवतरण था, जिसने सम्पूर्ण भारतवर्ष विशेषकर उत्तरभारत में अपने तप, त्याग, साधना, संयम और चर्या के द्वारा एक ऐसी पहचान कायम की जिसे सदियाँ नहीं भुला पायेंगी। श्रमण संस्कृति का ऐसा संवाहक जो जन-जन का प्रिय हो गया। जो सबका स्वामी हो गया जिसके आशीष के लिए मानव सर्वस्व तक न्यौछावर करने के लिए आकुल रहता है आस्था का ऐसा परिपुष्ट केन्द्र एक लम्बे अंतराल के पश्चात् इस धरित्री को मिला है जिसे इतिहास कभी विस्मृत नहीं कर सकेगा।

परिवारिक वातवरण :

मलप्पा जी का परिवार अत्यंत सरल, सुशील और धार्मिक, प्रकृति का था। अनुशासन, नियम, व्रत, सदाचरण और नितप्रति देवदर्शन इस परिवार की अनिवार्यताऐं बन गई थीं। शोधकर शाकाहारी भोजन को ग्रहण करना नित्य नियम के अंतर्गत आता था। बालक विद्याधर के जन्मोपरांत अचानक एक दिन उनकी माँ का स्वास्थ्य खराब हो गया। संयोग से उस दिन चतुर्दशी थी। वे चतुर्दशी का व्रत किया करती थीं। अस्वथ्यता के कारण मलप्पा जी ने उन्हें व्रत करने के लिए मना किया लेकिन उन्होंने उनके आग्रह को विनम्रता पूर्वक यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि--"यह संसार नश्वर है, शरीर नाशवान है ऐसी स्थिति में नाशवान और नश्वर के लिए आसक्ति किस बात की, धर्म और कर्त्तव्य के क्षेत्र में इन चीजों को बाधक नहीं बनाना चाहिए।"

जिन विद्याधर की माँ इतनी धाार्मिक, दृढ़, संकल्पवान और कर्त्तव्यपरायण हो उनका पुत्र किन संस्कारों को लेकर जन्मा होगा सहज ही विचार किया जा सकता है। ठीक इसी तरह से पिता मालप्पा जी भी अत्यंत धाार्मिक, सरल स्वाभावी, मृदुभाषी और परोपकारी व्यक्ति थे। समाज में उन्हें सज्जन और सद्पुरुष के रूप में जाना जाता था। वे यद्यपि दस सन्तानों के पिता थे लेकिन दुर्योग से चार संतानें असमय ही इस नश्वर संसार से विदा ले चुकी थीं। शेष छःह संतानों में चार पुत्र और दो पुत्रियाँ थी। ज्येष्ठ पुत्र का नाम श्री महावीर प्रसाद जी है जो आज भी ग्राम सदलगा के निकट शमनेबाड़ी ग्राम में अपने परिवार के साथ ससम्मान धार्मिकता पूर्वक जीवन यापन कर रहे हैं। आचार्य विद्यासागर इन्हीं के अनुज थे। विद्याधर की दो बहिनें शान्ता और सुवर्णा तथा दो भाई अनन्तनाथ और शाँतिनाथ हैं। पर पूरा परिवार धर्ममय है। महावीर प्रसाद जी ग्रहस्थ होते हुए भी सन्यासियों की तरह रहते हैं। शेष भाई बहिन धर्म के पथ पर अग्रसर होकर इस देश के जन जन तक माँ जिनवाणी का प्रसाद नाना रूपों में वितरित कर रहे हैं। साधना के बहुआयामी रूपों में।

मलप्पा जी साहूकार कहलाते थे। उनके पास बीस एकड़ भूमि पर कृषि कार्य होता था। मुख्य रूप से कृषि भूमि पर गन्ना, मूंगफली और तम्बाखू की खेती की जाती थी। व्यापार कार्य भी हुआ करता था। साहूकारी का कार्य प्रमुख होने के बावजूद भी मजबूर और निराश्रितों को निर्ब्याज पैसा भी

दिया जाता था। मलप्पा जी नितप्रति देशदर्शन, स्वाध्याय, सामाजिकों के साथ साथ धर्मचर्चा करना उनकी एक प्रकार से नैमेत्तिक क्रियायें बन गई थीं। उनका स्वभाव अत्यंत सरल, विनम्र और मृदु था जिसके कारण लोग उन्हें मल्लिनाथ भगवान के नाम से मल्लिनाथ कहकर पुकारने लगे थे। धार्मिक प्रकृति और आस्थावान होने के कारण यह परिवार प्रायः तीर्थाटन, मुनिदर्शन के लिए प्रायः जाता रहता था। विद्याधर भी माता पिता के साथ जाया करते थे उस समय इन्हें 'पीलू' के नाम से सम्बोध जाता था। डेढ़ वर्ष की अवस्था में 'पीलू' जी ने लम्बी यात्रा कर अपने धार्मिक संस्कारों को बचपन से ही परिपुष्ट करने की भूमिका तैयार कर ली थी।

बाल्यावस्था की महत्वपूर्ण घटना :

आगत की सूचना का शुभ संकेत प्रारंभ से ही किसी न किसी रूप में भासित होने लगता है। विद्याधर के साथ भी बचपन की कुछ घटनाऐं अनहोनी थीं। जो इस बात की ओर संकेत कर रही थीं कि यह कोई साधारण बालक नहीं है। जब एक बार मालप्पा जी सपत्नीक श्रवण बेलगोला (हासन) कर्नाटक भगवान गोमटेश्वर के दर्शनार्थ पर्वत शिखर पर पहुँचकर भक्तिभाव से पूजा अर्चना में लीन हो गये तो बालक विद्याधर वहाँ से कहीं अन्यत्र खिसक गये। चंचल बालक सीढ़ियों पर से लुढ़ककर दस ग्यारह सीढ़ियाँ नीचे पहुँच गया। माँ ने बालक को समीप न पाकर विचलित हो उठीं। लेकिन ज्यों ही माँ ने बालक को प्रसन्न मुद्रा में देखा तो उन्हें संतोष हुआ पर मन में इस बात से अभी भी विचलित थी कि यदि बालक और नीचे सीढ़ियों से चला जाता तो क्या होता? पर सच तो यह है कि यह केवल माता के मन की आशंका थी। होना तो कुछ और ही था। अर्थात् बालक विद्याधर की रक्षा स्वतः गोमटेश्वर भगवान ने की शायद इस प्रयोजन से कि अभी तो इस बालक को अपनी अद्वितीय प्रतिभा से इस देश और दुनियाँ को आश्चर्यचकित करना है।

शिक्षा-दीक्षा और अभिरूचि :

विद्याधर को पढ़ाई से ज्यादा खेलों में रूचि अपेक्षाकृत ज्यादा थी। शतरंज के तो मानो वे बचपन से ही निष्णात खिलाड़ी बन गये थे। चित्रकला के प्रति भी उनका काफी रूझान था। पशु पक्षियों के अलावा महावीर, गांधी, नेहरू के चित्र वे बड़े ही मनोयोग से बनाया करते थे। इन महापुरूषों के अहिंसात्मक विचारों से वे काफी प्रभावित थे। नाटकों और सिनेमा के प्रति भी उनमें पर्याप्त रूचि का भाव था। परन्तु उनकी खोजी दृष्टि सभी जगह अपने मतलब की चीजें ग्रहण कर ही लेती थी। वे पढ़ाई के प्रति भी खेलों की ही तरह सजग थे। गणित के सूत्रों को पलभर में याद करना, भूगोल के नक्शे देखते ही देखते बना देना। पाठ याद करके गुरूजी को सुना देना तो उनके लिए जैसे अत्यंत सरल कार्य था। उनकी इस कुशाग्र बुद्धि और प्रतिभा से कक्षाध्यापक श्री मलू जी से बेहद प्रभावित थे। विद्याधर की मातृभाषा कन्नड़ थी प्रारंभिक शिक्षा गाँव में ही ग्रहण करने के उपरांत हाईस्कूल शिक्षा प्राप्त करने हेतु

उन्हें बढ़ेकीहाल हाईस्कूल में पास के ही गांव में दाखिला लेना पड़ा। यहाँ पर उन्होंने नौ वीं कक्षा मराठी माध्यम से उत्तीर्ण की। उनका मानना था कि शिक्षा प्रत्येक बालक के लिए अनिवार्य है क्योंकि इससे व्यक्ति के संस्कार और चारित्र्य का निर्माण होता है।

दैनन्दिन जीवन/दिनचर्या :

बालक विद्याधर की दिनचर्या अनुशासन से आबद्ध थी। प्रत्येक क्रिया का समय और स्थान निश्चित सा था। नितप्रति समय से स्नान, देवदर्शन, भोजन, खेल और अध्ययन तथा धार्मिक आयोजनों के समय अत्यंत उत्साहपूर्वक आगे रहना, ग्राम में मुनिराजों के आने पर उनके नित्य ध्यानपूर्वक प्रवचनों को सुनना और आत्मसात करना। बालक विद्याधर प्रत्येक कार्य तथा अपने परिवेश में स्वच्छता पर काफी ध्यान रखते थे। माता-पिता के द्वारा सौंपे गये छोटे-मोटे कार्य करने के उपरांत अपनी पढ़ाई करना परन्तु इस लौकिक पढ़ाई के साथ-साथ धाार्मिक और नैतिक पढ़ाई का भी विशेष ध्यान रखते थे। उनका बचपन एक तरह से सूत्रबद्ध था। उनकी ज्यों-ज्यों उम्र बढ़ती गई दिनचर्या के संकल्प सूत्र भी विस्तार पाते गये। छोटी सी उम्र में ही आपने प्रकृति के प्रांगण में उसके नानारूपों को काफी नजदीक से निहारा था। अनेक मंदिरों और सिद्ध क्षेत्रों की वन्दना कर ली थी। ब्रह्मचारी व्रत और फिर मुनिव्रत धारण करने के उपरांत तो आपकी दिनचर्या विराटता की ओर अग्रसर हो चली थी। आजन्म पदयात्रा का व्रत धारण करने के उपरांत आपने मुनिव्रत के संकल्पों को दृढ़ता के साथ पालन करना आरंभ कर दिया था। प्रकृति और मौसम अवश्य परिवर्तित होते रहे पर आपकी दिनचर्या में रंचमात्र भी परिवर्तन नहीं आया, फिर चाहे वह ग्रीष्म ऋतु हो, वर्षा ऋतु हो या फिर शीत ऋतु। आपकी दिनचर्या शास्त्रों पुराणों के अनुसार -''तीर्थाटन या भ्रमण करने के बाद संध्या होते ही विश्राम करते हैं और सम्पूर्ण रात्रि में एक जगह से दूसरी जगह नहीं जाते। मौन भाव धारण किये हुए वहीं ठहरे रहते हैं चाहे प्रलय ही क्यों न आ जाये।''[5]

आपकी दिनचर्या में सर्वाधिक महत्वपूर्ण चर्या ''आहार चर्या'' है। इस चर्या हेतु निकलने के पूर्व मन्दिर जी में जाकर जिनेन्द्र देव के समक्ष आहार विधि का संकल्प कर लेते हैं। तब किसी श्रावक द्वारा पढ़गाहन के समय उनकी विधि मिल जाती है तब वह उस चौके में आहारचर्या के लिए जाते हैं। महाराज श्री को चौके में ले जाने के पूर्व मन, वचन, काय, की शुद्धि का संकल्प दोहराते हुए अन्न जल की शुद्धि का भी वाचनिक प्रमाणन करना पड़ता है। अर्थात् विधि और सब प्रकार से शुद्धि आहारचर्या का प्रधान अंग है। दिगम्बर मुनि खढ़े होकर करपात्र द्वारा आहार अंजुलि के माध्यम से करते है। जो 24 घण्टे में एक बार होता है। भोजन के समय ही प्राशुक जल को भी केवल एक ही बार ग्रहण करते हैं। स्वादिष्ट और तामसी भोजन का त्याग आचार्य श्री ने सदा सर्वदा के लिए कर दिया है। माह में अक्सर अष्टमी चतुर्दशी के उपवास भी हो जाते हैं। आहारचार्या के समय अन्तराय की क्रिया का अत्यंत दृढ़ता के साथ पालन किया जाता है। अपवित्र वस्तु, बाल या अन्य तरह के अपशकुन होने पर यथास्थिति में

अंजुलि छोड़कर आहार का परित्याग कर दिया जाता है। किसी भी स्थिति में शिथिलता का कोई काम नहीं है। अन्तराय की स्थिति में भी चेहरे पर स्मित मुस्कान की आभा देखी जा सकती है। यद्यपि श्रावक अत्यंत दु:खी हो जाता है पर महाराज जी प्रसन्न। प्रसन्न इसलिए कि उनके अतीत संचित कर्मों की निर्जरा इसी प्रकार से हुआ करती है। किसी तरह की बाधा उनके अन्दर खिन्नता को प्रकट नहीं होने देती। मुक्तिपथ के अनुगामी जो ठहरे। ध्यान-मग्न, तात्विक-चिंतन, मुक्ति की यात्रा के अनुगामी अपने आप में सदालीन रहकर लोककल्याण हेतु सृजन के साथ प्रवचन भी करते हैं। लक्ष्य मात्र दो ही हैं आत्म कल्याण और लोक कल्याण। सच्चा संत वही है जो लोक कल्याण की भावना से भरा रहता है। रात्रि के समय पुन: मौन धारण कर चिन्तन, मनन और आत्म विश्लेषण में तल्लीन हो जाते हैं। रात्रि में विश्राम की अवधि अल्प ही होती है। विश्राम के लिए लकड़ी का तख्ता या नंगी जमीन का ही प्रयोग करते हैं। लगता है जमीन बिछौना और आसमान ओढ़ना हो।

''आपकी निर्मल, पवित्र, पावन और निर्दोष चर्या से प्रभावित होना स्वाभाविक है। इस प्रकार आपकी चर्या शांत, सुबोध, ज्ञानमयी भावना जाग्रत करती है।''6

रूचि और स्वभाव- बालक विद्याधर अत्यंत सरल स्वभावी प्रकृति के रहे हैं। आपके मन में जिज्ञासा का भाव बचपन से ही रहा है कि जिज्ञासा का भाव व्यक्ति को ज्ञानार्जन कराता है। ज्ञानार्जन व्यक्ति के भविष्य को सुनिश्चित करता है। विद्याधर जी अपने मन में उठने वाली शंकाओं का निवारण जब तक उचित माध्यम से नहीं कर लेते थे तक शांत नहीं बैठते थे। उनमें सरलता, आत्मीयता, आदर, स्नेह और वात्सल्य का भाव कूट-कूटकर भरा था। उनके मन में बड़ों के प्रति आदर तथा छोटों के प्रति स्नेह का भाव सदैव बना रहा। दूसरों की मदद करने के लिए वे सदैव तत्पर रहते थे। ''मन्दिरों के प्रति शास्त्रों के प्रति आसक्ति, मुनियों। साधुओं के प्रति भक्तिभाव, तीर्थादि पवित्रस्थलों के प्रति अभिवंदना का भाव, चींटी से लेकर हाथी तक सभी जीवों के प्रति दया और कल्याण का भाव रहा है।''7 इसके अतिरिक्त ''बाल्यावस्था से ही अपने मित्रों के प्रति सहयोग का भाव, नौकर मारुति के प्रति बराबरी का भाव रहा है। अहिंसक वृत्ति, अनासक्ति और मौन रहने की वृत्ति भी उनके स्वभाव में सम्मिलित है। वे जितने संतोषी हैं उतने ही अक्खड़ भी हैं, वे जितने दयालु हैं उतने ही श्रमशील भी।''8

प्रेरणा और प्रभाव : प्रेरणा से पथ प्रशस्त होता है। जीवन का लक्ष्य और गंतव्य मिल जाता है। प्रेरणाओं का प्रभाव इतना प्रभावकारी होता है कि जीवन की दिशा और दशा ही बदल जाती है। आचार्य विद्यासागर बचपन से ही प्रेरणा प्राप्तकर अपनी बाल्यवस्था में ही जीवन की बुनियाद को शनै:-शनै: परिपुष्ट कर रहे थे। जब कभी भी उनके ग्राम के आसपास मुनियों/साधुओं का आगमन होता तो उन्हें बेहद प्रसन्नता की अनुभूति होती थी। उनके प्रवचनों की प्रेरणा से उनकी सोच और चिंतन में परिवर्तन होने लगता था। साधुओं की चर्याओं को देखकर उनके जीवनमें अनुशासन की दृढ़ता कायम होने लगी थी। बालक

विद्याधर को सांसारिक असारता का आभास होने लगा था। उनके अन्दर धीरे-धीरे एक अजीब सी छटपटाहट ने जन्म ले लिया था। वैराग्य ने उनके अन्दर प्रवेश पा लिया था। सरलता, सागदी, विनय और अनुशासन की प्रेरणा उन्हें अपने आराध्य गुरु ज्ञानसागर के जीवन से प्राप्त हुई थी।

प्रत्येक धर्म में वे ईश्वर की सत्ता को सर्वोपरि मानते थे। मन्दिर हो या ईदगाह उन्हें सदैव प्रेरणा देते रहे। उन्हें ऐसे स्थलों को देखकर सर्वधर्म समभाव की अनुभूति प्राप्त होती थी। 'त्याग' की प्रेरणा उन्हें पिता श्री के निर्लिप्त और निस्पृह भाव से तो सारतत्व की प्रेरणा माता जी द्वारा मक्खन निकालने से प्राप्त हुई। प्रकृति का वातावरण, फलों से लदे हुए वृक्ष और कल-कल करती हुई नदियों का जल उन्हें परहित और अनवरत् गतिशील बने रहने की प्रेरणा प्रदान करता रहता था। जिनेन्द्र भगवान की भक्ति और आपसी प्रेम तथा सद्भाव की प्रेरणा उन्हें परिवारिक वातावरण से मिलती रहती थी। वैराग्य भावना का उदय उनके अन्तःकरण में आचार्य देशभूषण जी महाराज के द्वारा हुआ। चारों ओर का सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक वातावरण भी उन्हें समय-समय पर प्रेरित करता रहता था। समाज में व्याप्त विसंगतियों से भी वे अशांत हो उठते थे। 'स्वार्थ' और 'अहं' में लिप्त मानवों के कुचक्र और चालों को देखकर भी उन्हें बराबर प्रेरणा मिला करती थी। उनका मानना था कि 'प्रभु' से मिलने में सबसे बड़ी बाधा उत्पन्न करने वाला व्यक्ति का अहंकार ही है। 'अहंकार' का विसर्जन किये बगैर 'प्रभु' से मिल पाना सम्भव नहीं है। जिस तरह नदियाँ अपने अस्तित्व को मिटाकर सागर से मिल जाती है उसी प्रकार भक्त भी अपने 'अहं' को गलाकर प्रभु से साक्षात्कार कर सकताहै। आचार्य श्री लिखते है:-

''व्यक्तित्व को, अहं को, मद को मिटा दे,
तूँ भी 'स्व' को सहज में, प्रभू में मिला दे।
देखो नदी प्रथम है निज को मिटाती,
खोती तभी, अमित सागर रूप पाती।''[9]

वैराग्य पथ का उ[illegible] :

विद्याधर बीस वर्ष की आयु में ही काफी कुछ लौकिक और पारलौकिक ज्ञान को प्राप्त कर चुके थे। अब वे उस समय के संयोग की प्रतीक्षा कर रहे थे जब घर से निकल सकें। लेकिन तत्क्षण ही उनके मन में यह विचार उदित हुआ कि यह संयोग माता, पिता, परिजनों की आज्ञा से तो कदापि संभव नहीं है, लिहाजा वह किसी को बताये बगैर ही घर से चले जाना चाहते थे। और कुछ हुआ भी ऐसा ही। जब उन्हें जानकारी मिली कि आचार्य देशभूषण जी महाराज जयपुर (राजस्थान) में विराजमान हैं तो उन्होंने बगैर बिलम्ब किये हुए जयपुर का रास्ता पकड़ा और आचार्य श्री के पास पहुँचकर नमोस्तु निवेदित कर ब्रह्मचर्य ब्रत धारण करने की आज्ञा मांगी। इधर अचानक विद्याधर के घर से चले जाने पर गाँव-घर में काफी चिन्ता बढ़ गई। पुत्र की विकलता में माँ-बाप तथा भाई बहिनों का बुरा हाल हो गया। फिर लोगों ने विचार किया कि कहीं विद्याधर मुनिराज के दर्शनार्थ बगैर बताये तो नहीं चले गये हैं। इस

तरह ऊहापोह की स्थिति में सात दिवस व्यतीत हो गये, तब कहीं जाकर आचार्य देशभूषण जी महाराज के संघ से एक पत्र प्राप्त हुआ जिसमें मलप्पा जी को धर्मलाभ की प्रेरणा के साथ विद्याधर को ब्रह्मचर्य व्रत की अनुभूति के लिए इंगित किया गया था।

विद्याधर जबसे आचार्य देशभूषण जी महाराज के संघ में आये थे वे काफी प्रसन्नता का अनुभव कर रहे थे। ज्यादा समय उनका आचार्य श्री की सेवा और धर्मध्यान में ही व्यतीत होता था। आचार्य श्री ने विद्याधर को केवल दो ही कार्य सौंपे थे, एक-आश्रम को साफ-सुथरा रखना दूसरे-चूलगिरि पर्वत से नीचे जाकर बस्ती से शुद्ध दूध लाना। ये दोनों कार्य वे बड़े ही दत्तचित्त होकर समय से करते थे। सेवाभाव की सरलता और कार्य के प्रति उनमें कूट-कूटकर भरी थी। इसी दौरान उन्हें एक पुस्तक हाथ लग गयी 'जैन सिद्धान्त प्रवेशिका'। इस पुस्तक में उनका मन इतना रमा कि उन्होंने इसे कण्ठस्थ याद कर लिया। इस पुस्तक से उनके ज्ञान में पर्याप्त अभिवृद्धि हुई। आचार्य श्री की सेवा करते समय उनका अन्तर्मन अभिभूत हो उठता था। एक दिन की बात है कि आचार्य श्री को बिच्छू ने डंक मारा दिया। असहनीय पीड़ा से आचार्य श्री कराहने लगे। रात्रि का समय था। औषधि पहाड़ के नीचे थी, प्रश्न उठा औषधि लेने कौन जायेगा? तत्क्षण विद्याधर ने कहा-मैं जाऊँगा। रास्ते की कठिनाईयों की परवाह किये बगैर वे पर्वत के नीचे आये और औषधि लेकर अबिलम्ब आचार्य श्री के पास पहुँचे। आचार्य श्री को बिच्छू के जहर उतरने की पीड़ा से निजात मिली। विद्याधर की इस सेवाभावी प्रवृत्ति से आचार्य श्री प्रसन्न हुए और विद्याधर को अन्तर्मन से आशीष प्रदान किया।

विद्याधर आचार्य श्री का आशीष पाकर निहाल से हो गये। उधर उनके ज्येष्ठ भ्राता भाई महावीर प्रसाद गाँव के कुछेक साथियों के साथ विद्याधर को लिबाने के लिए जयपुर की ओर चल दिये। जयपुर पहुँचकर भाई महावीर ने विद्याधर से माता-पिता की हालत का मर्मान्तक बखान किया। बहिनों के अश्रुप्रवाह का भी बखान किया लेकिन उन पर किसी का जरा भी प्रभाव नहीं पड़ा। विद्याधर ने अपने ज्येष्ठ भ्राता से अत्यंत विनयपूर्वक कहा-''मुझे संसार से निकलने दो, मैं मुक्ति के लिए छटपटा रहा हूँ। भला दूध से निकला मक्खन पुनः दूध में समरस कब हुआ है?''[10] संवाद और ज्येष्ठ भ्राता के आग्रह को कठोरता से नहीं नकार पाने के कारण विद्याधर ने मौन व्रत लेकर आहार का परित्याग कर दिया। तीन दिवस तक निराहार बने रहने पर बात आचार्य श्री के पास पहुँची। आचार्य श्री ने भलीप्रकार से जान लिया कि विद्याधर अब वापिस जाने वाला नहीं है। लिहाजा आचार्य श्री ने महावीर प्रासद जी से आज्ञा प्राप्त कर अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत पालन करने की आज्ञा दी। तत्पश्चात विद्याधर ने आहार लिया और महावीर प्रसाद हताश और निराश होकर घर वापिस लौट आये।

महावीर प्रसाद के जयपुर लौटने तक का समय माता-पिता के लिए एक-एक पल एक-एक

बरस की तरह व्यतीत हो रहा था, लेकिन ज्योंही महावीर प्रसाद को अकेले लौटते हुए देखा तो दुःख की सीमा नहीं रही। सारा घर विद्याधर के अभाव में बिलखने तड़पने लगा। पर अब क्या था? मलप्पा जी मजबूर होकर यह सोचने के लिए विवश हुए कि-"तोता उड़ गया अब उसकी आशा करना व्यर्थ है। अब छाती पर पत्थर रखना ही पड़ेगा।"[11]

मलप्पा जी के मन पर वैचारिक आघात अनवरत् चोटें कर रहे थे, उनके मन में विचार आता कि यदि विद्याधर का विवाह कर देते तो अच्छा होता, फिर सोचते कि व्यवसाय में लगा देते तो संसार में रम जाता। फिर सोचते कि जिसका मन वैराग्य में रम चुका हो भला वह अन्य किसी में कैसे रमता? दूसरी ओर आचार्य देशभूषण जी महाराज के संघ में विद्याधर की स्थिति कुछ इस तरह की थी- "विद्याधर का मन प्रतिदिन दृढ़ से दृढ़तर हो रहा था। स्वभाव में क्षमा, मार्दव, आर्जव और शौचभाव बढ़ रहा था। सत्य और संयम में रूचि गहरी हो गई थी, तप-त्याग जीवन के अंग बनने लगे थे और आकिंचन्य की भावना अँकुराने लगी थी।"[12]

सच तो यह था कि विद्याधर का मन घर में कभी नहीं लगा। यही कारण था कि वे अवसर पाकर गृहत्याग कर वैराग्य के कंटकाकीर्ण पथ का अनुसरण कर बैठे। उनके इस वैराग्य के पीछे पूर्वजन्म के संस्कार जोर मार रहे थे। उनका यह वैराग्य बाहर से आरोपित न होकर भीतर से ही उद्भूत था।"[13] उपसर्ग और परीषहों को हंसकर जीने वाला यह ब्रह्मचारी जन-जन की प्रेरणा का केन्द्र बिन्दु बन गया।

"विषयों को विष लख तजूँ, बनकर विषयातीत।
विषय बना ऋषि ईश का, गाऊँ उनका गीत।"?[14]

अन्तर्मन मैं वैराग्य की भावना उत्पन्न हो जाने पर सांसारिक वस्तुओं के प्रति आसक्ति अपने आप समाप्त हो जाती है। विद्याधर ने संसार की समस्त सुख-सुविधाओं का परित्याग कर अध्यात्म को अंगीकार किया। कारण यह था कि उन्होंने सांसारिक असारता, जीवन के वास्तविक रहस्य और साधना के महत्व को भलीप्रकार से जान लिया था। विद्याधर की निष्ठा, दृढ़ता, संकल्प और अड़िगता के सामने सभी ने घुटने टेक दिये थे।

श्रवणबेल गोला का महामस्तकाभिषेक :

श्रवणबेल गोला में भगवान गोमटेश्वर का महामस्ताभिषेक होना था। समाज ने आचार्य देशभूषण जी महाराज से ससंघ पधारने के लिए निवेदन किया। आचार्य श्री ने आज्ञा दे दी, संघ बिहार करता हुआश्रवणबेल गोला पहुँचा। भारतवर्ष के प्रान्तों से इस समारोह में श्रद्धालुजन पधारे। विद्याधर को इस विशाल धार्मिक आयोजन के द्वारा अनेक धार्मिक-परम्पराओं को जानने समझने की व्यावहारिक जानकारी हासिल हुई। मुनि-संघ की चर्या और धर्मसाधना के वातावरण ने विद्याधर को काफी प्रभावित किया।

विद्याधर रोज हजारों श्रद्धालुओं को भगवान बाहुबली के दर्शनार्थ चढ़ने-उतरते लोगों के मुख से यही सुनाई पड़ता ''भगवान बाहुबली की जय, भगवान गोमटेश्वर की जय''। श्रद्धालुओं के जयघोषों से आकाश गुंजायमान हो उठता था। जिस दिन श्रद्धालुओं द्वारा गोमटेश्वर की विशाल प्रतिमा का दुग्ध से अभिषेक किया गया उस दिन आनंद का पारावार नहीं रहा। विद्याधर को ऐसा लगा जैसे महामस्तकाभिषेक का दर्शन, अनेक प्रांतों, भाषाओं और वेशभूषाओं की विविधता में एकता सिमट गई हों। वे इन समस्त घटनाओं का अत्यंत बारीकी के साथ निरीक्षण कर साररूप को आत्मसात कर रहे थे। महोत्सव धीरे-धीरे समाप्त हो गया। भगवान बाहुबली के जीवन का प्रतिबिम्ब उनके मनोमस्तिष्क पर समग्रता के साथ छा गया। वे सब क्रियाओं को देखकर अभिभूत हो उठे थे। उनके अन्तःकरण में भाव उमढ़ने लगे थे कि वह सुखद घड़ी जीवन में कब आयेगी जब विधिवत् दीक्षा धारण कर मुक्तिपथ के अनुगामी बनने का अवसर आयेगा।

परिवेश और परिस्थितियों में मन का चंचल होना स्वाभाविक है। विद्याधर भी विशाल जनसमुदाय को देखकर कौतुहलवश विचार करने लगे कि क्या ऐसा अवसर मेरे जीवन में भी आ सकता है? उनके मनोमस्तिष्क में नाना प्रकार की जिज्ञासाएं उठ रही थीं। उनका मन कह रहा था कि लोग हमें भी जानें, हमें भी स्मृति में संजोऐं। लेकिन तुरन्त ही उन्होंने अपने मन पर काबू पा लिया। वे एक तटस्थ दृष्टा की तरह सारी घटनाओं को मनोयोग से देखने में तन्मय हो गये। प्रत्येक घटना उनके मानस पटल पर छाप छोड़ती चली गई। उन्होंने स्मृति के कैमरे में सब कुछ कैद कर लिया।

विद्याधर की गुरुभक्ति की सभी प्रशंसा करते थे। उनके संघ में मात्र दो ही महत्वपूर्ण कार्य थे एक तो पूर्णनिष्ठा और समर्पण के साथ गुरुभक्ति और दूसरे नियमों का पालन अत्यंत दृढ़ता के साथ करना। उस समय आचार्य देशभूषण जी महाराज कुछ अस्वस्थ चल रहे थे। अस्वस्थतावश दुर्गम स्थानों में उन्हें डोली में बैठाकर चलना पड़ता था। जो लोग डोली में कंधा देते थे वे अपने आपको सौभाग्यशाली मानते थे। पर कंधा देने वालों में विद्याधर सबसे आगे रहते थे। उनके चेहरे पर थकान का नामोनिशान तक नजर नहीं आता था उनकी गुरुभक्ति को देखकर सभी जन आश्चर्य चकित रह जाते थे।

दिगम्बर वेशधारण करना अत्यंत कठिन कार्य है। इस पथ का अनुसरण करना तलवार की धार पर चलने के समान है। समस्त सुखों का परित्याग कर जीवन में प्रत्येक प्रकार की बाधाओं को हँसते-हँसते वरण करने का संकल्प ही इस पथ का पथिक बनने की प्रेरणा प्रदान करता है। विद्याधर ने ब्रह्मचारी अवस्था में ही इस पथ के अनुसरण करने पर पथ की बाधाओं को भली प्रकार से जान लिया था। परिषह प्रेरणा की एक घटना इस प्रकार है-''आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज अस्वस्थ होने के कारण डोली से बिहार कर रहे थे। संध्या के समय डोली को जमीन पर रखा गया। आचार्य श्री भूमि

पर बिछी हुई चटाई पर विश्रामार्थ बैठ गये। अचानक कहीं से बिच्छू आया और उसने आचार्य श्री के पैर के अंगूठे में डंक मार दिया। डंक मारते ही आचार्य को ऐसा लगा जैसे किसी ने आग चिपका दी हो। बिच्छू का जहर सारे शरीर में फैल गया। उपचार की अफरा तफरी होने लगी पर आचार्य श्री ने संकेतों में यह जतला दिया कि इसकी आवश्यकता नहीं आज हम अपनी सहनशक्ति की परीक्षा लेंगे। रातभर गुरुवर असहनीय वेदना को धर्मपूर्वक सहते रहे पर उन्होंने किसी को कोई कष्ट नहीं दिया। इस परीक्षा में वे सौफीसदी सफल हुए। प्रातःकाल होते-होते ब्याधि अपने आप शांत हो गई। विद्याधर के अन्तर्मन पर इस घटना ने काफी गहरा प्रभाव डाला। परिषह-सहन करने की प्रेरणा उन्हें सच्चे अर्थों में देशभूषण महाराज से ही प्रथमतः प्राप्त हुई।'' 15

दिगम्बर वेशधारी मुनि धरित्री को बिछौना और आकाश को ही ओढ़ना मानते है। पदयात्रा करते हैं, अंजुलि से आहार ग्रहण करते, पिच्छी और कमण्डल ही उनके जीवन के उपादान हैं, आत्मा की खोज में अन्तर्लीन रहते हुए सांसारिक प्राणियों को जीवन के महात्म्य की शिक्षा देते हैं। सत्य क्या है ? भ्रम क्या है ? माया क्या है ? शाश्वत् की खोज कैसे संभव है ? शरीर नाशवान है, इसके प्रति आसक्ति कैसी? क्योंकि इसकी नियति तो अन्ततः जल जाना है ये सारी चीजें उनके आचरण और क्रियाओं में प्रत्यतः भासित होती है। इसीलिए तो वे महान् है, सबके स्वामी है, सभी उनके समक्ष नतमस्तक होकर उनके आशीष की कामना करते हैं। आचार्य देशभूषण जी महाराज का एक प्रसंग ऐसा है जिसे सुनकर मन श्रद्धावनत होकर आश्चर्यचकित हो उठता है-''आचार्य देशभूषण जी महाराज ससंघ शाजापुर (म.प्र.) की ओर प्रस्थान कर रहे थे। सूर्यास्त होते हुए देखकर संघ की व्यवस्था में संलग्न पं0 बलभद्र प्रसाद जी विश्राम व्यवस्था के लिए वाहन से नगर की ओर चल दिये। आचार्य श्री नगर प्रवेश के पूर्व अंधेरा गहराता हुआ जानकर कुछ दूरी पर एक पेड़ की आड़ में लघुशंका के लिए बैठ गये। अंधेरे में वे ये नहीं जान सके कि सर्पराज बैठे हैं। ज्योंही आचार्य श्री का पैर सर्प पर पड़ा कि उसने डस लिया। यह बात जब संघ के लोगों ने सुनी तो सभी किंकर्त्तव्यविमूढ़ से हो गये। आचार्य श्री ने शांतभाव से कहा कि जीवन का कोई ठिकाना नहीं मैं सामायिक में बैठता हूँ। भक्तों की असंख्यात भीड़ बढ़ती जा रही थी। डॉक्टर को भी बुलाया गया लेकिन जब उन्हें बताया कि महाराज जी उपचार नहीं कराते, तब किसी विषापहर्त्ता को बुलाया गया। उसने अपनी युक्ति से सर्पदंश निकालने की हरसंभव कोशिश की लेकिन वह भी पूर्णरूप से सफल नहीं हो सका। आचार्य श्री ने कहा कि आज में इसी वृक्ष तले सामायिक करूँगा और वे सारी रात उसी वृक्ष के नीचे सामायिक करते रहे। प्रातःकाल होने पर उन्होंने अपने आपको स्वस्थ अनुभव किया तो लोगों की प्रसन्नता का पारावार नहीं रहा। विषापहर्त्ता ने महाराज श्री को स्वस्थ देखकर आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा कि वास्तव में ये योगीराज हैं अन्यथा इस काले नाग का काटा हुआ कोई बच नहीं सकता।''16

श्रवणबेलगोला में अल्पावधि विश्राम के उपरांत संघ विहार करता हुआ स्तवनिधि क्षेत्र पहुँचा। यह स्थान प्राकृतिक सौंदर्य से अनुपम था। पर्वतीय क्षेत्र की शीतल वायु, झरनों का कलकल निनाद, पक्षियों की चहचहाहट, घने वृक्ष की कतारें, वरवश ही मन को आकर्षित कर लेती थीं। यह मनभावन रमणीय स्थान विद्याधर को काफी रूचिकर लगा। शास्त्राध्ययन इस शांत वातावरण में वे भली प्रकार से कर सकते थे लेकिन इस शांत और मनोरम वातावरण में उन्हें असुविधा थी तो मात्र इतनी सी कि सदलगा के लोग अक्सर उनसे मिलने के लिए आते थे। वे लोग अनचाहे ही परिवार का प्रसंग छेड़कर विद्याधर के धर्मध्यान में खलल उत्पन्न करते थे। विद्याधर ने अनेकों बार सोचा कि आचार्य श्री से निवेदन किया जाये कि यहाँ से बिहार कर दिया जाये। लेकिन श्रावकों की भक्ति और आग्रह के समक्ष विद्याधर अपनी व्यथा नहीं कह सके। धीरे-धीरे विद्याधर के मन में अशांति ने डेरा डालना आरंभ कर दिया। वे सोचने लगे कि मुझे इस वातावरण से जितनी जल्दी हो सके निकल जाना चाहिए। जब उन्हें ज्ञात हुआ कि मदनगंज-किशनगढ़ (अजमेर) राजस्थान में मुनि श्री ज्ञानसागर जी महाराज विराजमान है तो उन्होंने सारी बाधाओं के निदानार्थ एक ही उपाय सोचा कि अब मुझे यहाँ से चल देना चाहिए। वे निर्णय कर चुके थे कि अब मुझे जाना ही है। और एक दिन विद्याधर ने आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज से आज्ञा प्राप्त कर अजमेर के लिए प्रस्थान कर दिया।

यात्रा की बाधाओं को झेलते हुए विद्याधर दो दिनों तक निर्जल निराहार रहकर अजमेर पहुँच गये। अन्न जल ग्रहण न करने के पीछे कारण यह था कि वे मुनि या देवदर्शन के उपरांत ही अन्न जल ग्रहण करने का व्रत लिए हुए थे। सर्वप्रथम अजमेर में विद्याधर जी ने मन्दिर जी के दर्शन किये फिर एक सज्जन के बताये अनुसार वे श्री कजोड़ीमल के घर पहुँचे। उन्होंने अपना परिचय दिया तत्पश्चात् धर्म आराधक श्रावक श्री कजोड़ीमल जी ने उन्हें विनम्रता पूर्वक आहार कराया। कजौड़ीमल जी ने उन्हें विनम्रतापूर्वक आहार कराया। कजोड़ीमल अत्यंत सरल, निर्मल और पवित्र ह्दयवाले व्यक्ति थे। एक ब्रह्मचारी को अपने घर आहार ग्रहण कराकर उन्होंने अपने आपको धन्य माना। जब विद्याधर जी ने उनसे मदनगंज-किशनगढ़ जाकर महाराज श्री ज्ञानसागर जी के दर्शनों की अभिलाषा व्यक्त की तो उन्हें अतीव प्रसन्नता हुई। वे सायं उन्हें साथ लेकर मदनगंज-किशनगढ़ गये।

जब विद्याधर जी ने मुनि श्री ज्ञानसागर जी के पास पहुँचकर उनके दर्शन किये तो उन्हें अपारशांति की अनुभूति हुई। विद्याधर ने श्री कजौड़ीमल का ह्दय से धन्यवाद ज्ञापित किया।

मुनि श्री ज्ञानसागर जी महाराज ने कजौड़ीमल से नवागन्तुक के बारे में जानकर महाराज श्री को प्रसन्नता हुई कि एक महात्मा शरण में आया है। मुनि श्री ने विद्याधर से अनेकों प्रश्न किये। सार्थक उत्तर से विद्याधर की प्रतिभा और ज्ञान का आभास हुआ। चर्चा के दौरान बातों ही बातों में मुनि श्री स्मितमुस्कान के साथ कह उठे कि-"जिस तरह आचार्य श्री के चरणों को छोड़कर यहाँ चले आये हो

उसी प्रकार यहाँ से कहीं अन्यत्र तो नहीं चले जाओगे। विद्याधर तत्क्षण बोले कि में आपके विश्वास को बनाये रखने के लिए आज से वाहन की सवारी का त्याग करता हूँ और 'ईर्या-चर्या' को ग्रहण करता हूँ।'' विद्याधर के इस उत्तर से सभी आश्चर्य चकित होकर उनके मुख की ओर देखते रह गये। मुनि श्री भी विचार करने लगे कि यह कोई कच्चा धागा नहीं है जो परिस्थितियों के संघात से टूट जाये। उन्हें उनकी दृढ़ता को देखकर सन्तोष का अनुभव हुआ कि यह मुनिचर्या पालन करने के लायक है। उनका मन विचारमग्न होकर सोचने लगा कि उन्हें अब तक जिस शिष्य की सच्चे अर्थो में तलाश थी, वह तलाश विराम की स्थिति पर आ पहुँची है। उन्होंने विद्याधर को अपना उदार आशीष और पावन आश्रय प्रदान किया। विद्याधर को लगा जैसे मैं धन्य हो गया हूँ। उन्हें अपना आध्यात्मिक आश्रय मिल गया था, उन्होंने परम सन्तोष की अनुभूति की।

विद्याधर की मुनिदीक्षा :

मुनिश्री ज्ञानसागर के सान्निध्य में विधाधर एक वर्ष तक सतत् साधना करते रहे। यद्यपि अभी उनकी आयु केवल बाईस वर्ष की ही थी लेकिन उन्होंने अपने संयम, साधना, तप, त्याग और चर्या से सभी को प्रभावित कर लिया था। मुनि ज्ञानसागर ने भी अपने सुशिष्य को नानारूपों में परख लिया था। उन्होंने विद्याधर के दीक्षा के सम्बन्ध में अपने कुछ निकटस्थ साधकों और श्रावकों से भी चर्चा की। कुछ लोगों ने उनकी आयु को देखकर अवश्य कुछ कहा कि अभी उन्हें और साधना की अग्नि में तपकर सही होने की आवश्यकता है जबकि कुछेक अन्य लोगों का यह भी कहना था कि क्रमशः क्षुल्लक, ऐलक दीक्षा देकर ही उन्हें क्रमशः साधना के सोपानों को पार करने की अनुमति दी जाये। श्रेष्ठिवर्ग भी अभी विद्याधर की मुनिदीक्षा के पक्ष में नहीं था। उन लोगों ने मुनिवर के चरणों में अपना निवेदन कुछ इन शब्दों में व्यक्त किया-''मुनिवर! ब्रह्मचारी अभी अल्पवयस्क है, मुनिचर्या तलवार की धार पर चलना है अतः हमारी इच्छा है कि इन्हें दो-तीन वर्ष और अभ्यास करने दिया जाये। इन्हें यदि क्रम से उठाया जाये तो अच्छा रहेगा, पहले क्षुल्लक, पुनः ऐलक, तदनन्तर मुनि।''।[17] परन्तु विद्याधर की प्रतिभा, ज्ञान और साधना की दृढ़ता ने मुनिवर को अन्दर तक प्रभावित किया था। वे विद्याधर को भलीभांति परख चुके थे। लिहाजा श्रेष्ठिवर्ग की एक न चली उन्हें मजबूरन यह सोचकर लौटना पड़ा कि जब मुनि श्री ही दीक्षा देने का दृढ़ निश्चय कर चुके हैं तो फिर सारी बातें व्यर्थ हैं। और इस प्रकार काफी विचारविमर्श के उपरांत विद्याधर की दीक्षा सुनिश्चित हो ही गई। वह पावन बेला आ ही गई जिसका कि लोगों को बेसब्री से इंतजार था अर्थात सन् 1968 में जून मास की वह तिथि 30 जून जिस दिन विद्याधर की मुनिदीक्षा होनी थी। वीर निर्वाण संवत् 2494 के अषाढ़ शुक्ल पंचमी के रविवार का दिन। 30 जून को होने वाली विद्याधर की दीक्षा की सूचना ग्राम सदलगा में उनके परिजनों को भी दे दी गई। इसलिए कि शास्त्रानुसार दीक्षा से पूर्व माता-पिता एवं सम्बन्धियों की अनुमति प्राप्त करना आवश्यक होता है। पिता मलप्पा जी इस समाचार को सुनकर आवाक् रह गये। माता जी भी बेहाल हो गई। अनवरत् अश्रुप्रवाह आखिरकार

उन्हें जिस बात की आशंका थी वही हुआ। इस आकुलता के साथ-साथ मन के किसी कोने में इस हर्ष का भी अनुभव हो रहा था कि विद्याधर अब सच्चे अर्थों में अपने नामानुरूपों गुणों को धारण कर सकेगा। वे इस बात को भी अच्छी तरह से समझ रहे थे कि विद्याधर जिस पथ पर आगे बढ़ रहाहै उससे पीछे लौट पाना संभव नहीं हैं । यह सूचना सदलगा में सर्वत्र फैल गयी, सभी लोग आपस में नाना प्रकार की जिज्ञासाऐं प्रकट करते हुए वार्तालाप करने लगे। विद्याधर ने साधना का पथ अपना लिया है। अब वह गुरुवर ज्ञानसागर के द्वारा मुनिदीक्षा अजमेर में ग्रहण करने जा रहा है। हम सभी को इस समारोह में सम्मिलित होकर पुण्यार्जन करना चाहिए।

श्री मलप्पा के परिवार में यह चर्चा हुई कि दीक्षा समारोह में किस किसको जाना चाहिए ? इच्छा तो सभी की थी पर विचारविमर्श के उपरांत यह तय हुआ कि अग्रज श्री महावीरप्रसाद जी ही अजमेर दीक्षा समारोह में जायेंगे। माता-पिता का मोह कहीं पुत्र दीक्षा में बाधक न बने तथा घर भी सूना न रहे यह सोचकर केवल महावीर प्रसाद जी ही अजमेर की ओर चल दिये तथा दीक्षा के कुछ समय पूर्व वहाँ पहुँच गये। विधि अनुसार दीक्षा पूर्व ब्रह्मचारी को मुनि की भांति करपात्र में आहार लेना पड़ता है। विद्याधर को भी यह विधि पूर्ण करनी थी। उक्त विधि से आहार ग्रहण करते हुए उनकी एक झलक पाने के लिए सहस्त्रों श्रद्धालु नसिया जी में एकत्रित हो गये थे। विद्याधर की अहारचर्या को अपने सतृष्ण नेत्रों से देखकर सभी का अन्तर्मन आनंदविभोर हो उठा। सभी टकटकी लगाये केवल एक ही बात को सोच रहे थे कि धन्य है इन त्यागियों का जीवन जिन्होंने सत्य स्वरूप को जानकर इस रीते संसार के निस्सार वैभव को ठुकरा दिया है। अज्ञानी तो वे हैं जो इस रीतेपन में भी भरे होने का भ्रम पाले हुए हैं। जीवन के शाश्वत् सत्य की अनुभूति विरलों को ही होती है। जिन्हें हो जाती है वे इस संसार से हमेशा के लिए मुक्ति का उपक्रम कर लेते हैं जिन्हें नहीं हो पाती उन्हें तो अन्ततः भटकना ही है। भटकन पर विराम लगे यही सबका लक्ष्य होना चाहिए उस समय कुछ इसी तरह की प्रेरणाओं का आभास हो रहा था।

अन्ततः विद्यासागर की दीक्षा का मूहूर्त 30 जून को सुनिश्चित कर लिया गया। समिति द्वारा काफी प्रचार प्रसार की व्यवस्था की गई, फलस्वरूप आस पास के गाँवों तथा मुख्य रूप से जयपुर और किशनगढ़ से अपार जनसंख्या में भक्तों एवं दर्शकों की भीड़ उमड़ पड़ी। समाचार पत्रों के माध्यम से भी पर्याप्त सूचना का प्रसार हुआ। जिसके कारण दूर दराज के लोग भी 30 जून के दीक्षा दिवस के सम्बन्ध में पूर्व से ही अवगत हो चुके थे। कुछ लोगों में तो विद्याधर की दीक्षा के प्रति इतना अतीव उत्साह था कि वे तीन-चार दिन पूर्व ही अजमेर में अपना डेरा डाल चुके थे। प्रशासन और समाज ने मिलकर विभिन्न समितियों के माध्यम से व्यवस्था के पर्याप्त इंतजाम किये थे। यात्रियों के ठहरने के लिए अजमेर की धर्मशालाओं तथा अन्य तरह के नानारूपों में ठहरने की उचित व्यवस्था की गई थी। आयोजन और दीक्षा महोत्सव को सोल्लास सम्पन्न कराने के लिए नसिया जी के प्रांगण में एक विशाल पाण्डाल लगाया गया था।

दीक्षा पूर्व परम्परानुसार भव्यशोभायात्रा निकाली गई जिसमें सहस्त्रों नर-नारियों ने नंगे पैर चलकर भाग लिया। इस अवसर पर बैण्ड बाजों, भजन मण्डलियों, हाथी, घोड़ें और झाँकियों के द्रश्य लोगों का मन बरबस ही मोह लेते थे। एक युवा ब्रह्मचारी को वयोवृद्व तपस्वी मुनि द्वारा दी जाने वाली मुनि दीक्षा के दृश्य को देखने में अतीव उत्साह था। युवावस्था में विलास और मोह का त्यागकर कौन तपस्वी अपने आत्मीय परिजनों का मोह त्यागकर मुक्तिपथ को वरण कर रहा है उसे निहारने के लिए सभी जन अपने अन्दर एक अजीव से कौतुहल का अनुभव कर रहे थे।

जिस दिन विद्याधर की दीक्षा का मुहूर्त्त था उस दिन भीषण गर्मी थी। लेकिन असंख्यात लोगों की भीड़ का उत्साह देखते ही बनता था। विशाल पाण्डाल में एक छोर से दूसरे छोर तक नरनारी ही दिखाई दे रहे थे। काफी भीड़ थी तिल भर भी जगह शेष नही बची थी। काफी विशाल और भव्यमंच का निर्माण कराया गया था जिस पर होकर मुनि श्री ज्ञानसागर जी को युवा ब्रह्मचारी को मुनि दीक्षा देनी थी। विशाल शोभायात्रा नगर के प्रमुख मार्गों से होती हुई दीक्षा मण्डप की ओर बढ़ रही थी विभिन्न वेश भूषा में सजे धजे लोग, नानाप्रकार के परिधानों से सज्जित नारियाँ कतारबद्व रूप में आगे बढ़ते हुए, हाथियों की कतारें उनपर बैठे हुए वस्त्राभूषणों से सुसज्जित राजकुमार लोगों के आकर्षण के केन्द्र बने हुए थे। काफी मन लुभावन मनोरम दृश्य था। चारों और हर्ष का वातावरण, भगवान महावीर की जयकारा के नारे, मुनि ज्ञानसागर की जय, जैनधर्म की जय आदि नारों से वातावरण गुंजायमान हो रहा था। इस धार्मिक शोभायात्रा में विद्याधर के बड़े भाई महावीर प्रसाद जी भी सम्मिलित थे।

अपार जनसमूह से पाण्डाल भरा हुआ था, इस अवसर पर मंच का संचालन सेठ भागचन्द्र जी कर रहे थे। वे सभी को शाँति बनाये रखने के लिए मंच से बार बार निर्देशित कर रहे थे। धीरे धीरे जुलूस पाण्डाल की ओर आ पहुँचा था। सभी के ह्रदयों की धड़कनें तीव्र हो गई थी। मंच पर मुनिवर ज्ञानसागर जी के अलावा क्षुल्लक सन्मिति सागर जी तथा क्षुल्लक संभवसागर जी तथा अन्य क्षुल्लक, ब्रह्मचारीगण विराजमान थे। गणमान्य श्रावकों में प्राचार्य निहालचन्द्र लुहाड़िया के साथ श्री भागचन्द्र पाटनी श्री हुकुमचन्द्र लुहाड़ियाँ के साथ श्री भागचन्द्र सोनी भी थे। जुलूस के पाण्डाल में आ जाने पर ब्रह्मचारी विद्याधर को मंच पर बिछी हुई एक चटाई पर बैठा दिया गया। विद्याधर के ज्येष्ठ भ्राता भाई महावीर भी मंच पर एक ओर बैठ गये।

अग्रज जी से दीक्षा की अनुमति के उपरांत ही दीक्षा का कार्य आरम्भ हुआ। विद्याधर ने अत्यंत भक्तिभावपूर्वक गुरुवर के समक्ष हाथ जोड़कर विनतभाव से दीक्षा देने की प्रार्थना की। मुनिवर ने स्वीकृति का संकेत देते हुए विद्याधर से उपस्थित जनसमुदाय के समक्ष प्रासंगिक प्रवचन के लिए निर्देशित किया। यद्यपि विद्याधर अभी उतने परिपक्व और निष्णात प्रवचन की दृष्टि से नहीं थे किन्तु उन्होंने आचार्य देशभूषण जी, मुनिवर ज्ञानसागर जी, पण्डित महेन्द्रकुमार जी से शस्त्राध्ययन कर जो ज्ञान

का सारस्वरूप ग्रहण किया था उसे उन्होंने अपनी भाषा में अभिव्यक्त किया। उन्होंने सांसारिक असारता, माया की जटिलता, मोह के अटूट बन्धन और जीवन के शाश्वत् सत्य के जिस बोधात्मक स्वरूप की अत्यंत सरल शब्दों में अभिव्यक्ति की उसे सुनकर गुरुवर ज्ञानसागर जी के साथ-साथ उपस्थित जनसमूह श्रवणकर आश्चर्यचकित रह गया। सभी को उनकी असाधारण प्रतिभा की सूचनात्मक जानकारी मिल गई। तब लोग मन ही मन सोचने लगे कि यह ब्रह्मचारी जो कुछ ही क्षणों में मुनिदीक्षा ग्रहण करेगा निश्चित ही अपने आने वाले समय में जैन धर्म की पताका को शीर्ष ऊँचाई तक ले जाने में अपना महती योगदान करेगा।

विद्याधर ने मुनिवर के चरणों में विनयभाव से अपना निवेदन करने के उपरांत प्राणिपात किया और गुरुवर से केशलौंच की आज्ञा मांगी। आज्ञा मिलने पर विद्याधर ने केशलौच किया। केशलौच यद्यपि काफी कष्टसाध्य क्रिया है फिर भी वे एक कुशल अनुभवी की तरह मंच पर अपने केशों को उखाड़ने लगे। यद्यपि इस तरह की क्रिया वे ब्रह्मचारी अवस्था में कुछेक बार कर चुके थे। देखते ही देखते उनके सिर के अनेक स्थानों से रक्तस्त्राव होने लगा। स्त्रियाँ विशेष रूप से इस दृश्य को देखकर भावविव्हल हो उठीं। परन्तु वे निर्मल और उदासीनभाव से अपना कार्य करते रहे। मंच पर बैठे हुए अनेक विद्वानों तथा गुणी श्रावकों द्वारा जब लुंचनक्रिया में हाथ बटाँने और रक्त को पोंछने के लिए उद्यत हुए तो विद्याधर ने उन्हें संकेत के माध्यम से मना कर दिया। इस कष्टसाध्य कार्य में भी उनके सौम्यमुख पर किसी तरह का खेद और विषाद दृष्टिगत नहीं हो रहा था। जय-जयकार के नारों से सारा आकश गूंजने लगा था। आम जनता इस दृश्य को देखकर अपने आपको धन्य और सौभाग्यशाली अनुभव कर रही थी।

केशलौंच के उपरांत मुनिवर ने विद्याधर के लिए विधि-विधानपूर्वक अनेक मंत्रों के द्वारा दीक्षा का कार्य सम्पन्न किया। तत्पश्चात् उन्होंने सारे वस्त्रों का परित्याग कर दिया। विद्याधर ज्यों-ज्यों एकएक करके परिधान उतार रहे थे लोगों की उत्सुकता बढ़ती ही जा रही थी। उनकी दिगम्बरी मुद्रा देखने के लिए जनता आतुर थी। लोंगो का कहना था कि विद्याधर मन से विरागी तो काफी समय पूर्व से हो चुका था आज वह तन से भी विरागी हो गया है। मुनिवर ज्ञानसागर को अब दिगम्बर वेशधारण कर चुके विद्याधर का नामकरण करना था।क्योंकि ग्रहस्थ जीवन का नाम दीक्षा ग्रहण करते ही छूट जाता है। मुनिवर ने अब 'विद्याधर' से उन्हें 'विद्यासागर' नाम से सम्बोधित किया। दिगम्बर वेशधारी मुनि का दीक्षा गुरु नामकरण करते समय उनके समस्त गुणधर्म, प्रकृति और स्वभाव का ध्यान रखते हैं जिससे कि नामानुरूप गुणों की अनुभूति श्रावक मुनि के प्रत्येक आचरण और क्रिया से कर सके। ज्योंही मंच से 'विद्यासागर' नाम से नवदीक्षित मुनि को संबोधा गया उसी क्षण सारा वातावरण 'मुनि विद्यासागर' की जयकारा से गूंज उठा। राजस्थान के अजमेर नगर की वह मुनि दीक्षा सदा सर्वदा के लिए स्वर्णाक्षरों में स्मरणीय बन गई। ज्येष्ठ भ्राता महावीर जी ने आदि से लेकर अंत तक इस स्मरणीय दृश्य को अपनी

आंखों से देखा था। वे मन ही मन विचार कर रहे थे कि आज हमारा परिवार का एक होनहार सदस्य संसार के सारे बंधनों से नाता तोड़कर मुक्तिपथ का पथिक बन गया है।

अजमेर का भव्यदीक्षा समारोह लोगों के स्मृतिपटल पर अनेक स्मृतियाँ अंकित कर समाप्त हो गया। सभी लोग अपने-अपने वासस्थान की ओर लौट गये। भाई महावीर प्रसाद जी भी सदलगा आ गये। उन्होंने एक-एक घटना को माता-पिता और परिवार के अन्य सदस्यों को अत्यंत रुचिकर भाव से सुनाया। उनकी बातों को सुनकर माता-पिता अश्रुप्रवाहित करने लगे लेकिन गाँव वालों को इस बात का गर्व था कि हमारे गाँव का, विद्याधर आज संसार के सारे बन्धनों को तोड़कर मुनि विद्यासागर बन गया है। 'विद्यासागर' के कारण यह छोटा सा ग्राम 'सदलगा' सारे देश में पहचान का कारण बनेगा और निश्चित रूप से उस समय की वह सोच आज सच साबित हुई है। गाँव के लोग अनेक दिनों तक मलप्पा जी के पास आते रहे और दीक्षा समारोह के संस्मरणों को सुनते रहे। समारोह की चर्चा सुनते समय उनकी आँखों में जिस तरह की चमक और जिज्ञासा देखने को मिलती थी वह सच्चे अर्थों में तो शब्दातीत ही मानी जायेगी। सभी ग्रामवासियों ने मलप्पा जी के परिवार की उन्मुक्त भाव से प्रशंसा की। महावीर प्रसाद जी के भावविव्हल वार्तालाप को सुनकर मलप्पा जी से नहीं रहा गया उन्होंने निश्चय किया कि वे अजमेर जायेंगे 'मुनि विद्यासागर' जी से मिलने। उन्होंने महावीरप्रसाद जी से घर पर रहने को कहा। आखिरकार जिसका पुत्र मुक्ति के मार्ग पर बढ़ने के लिए जिस दृढ़ता के साथ अगसर हुआ हो उसे देखने के लिए कौन लालायित नहीं हो उठेगा। और मलप्पा जी अजमेर के लिए चल दिये।

दीक्षा के उपरांत :

ब्रह्मचारी अब 'मुनि विद्यासागर' के नाम से पहचाने जाने लगे। दीक्षा महोत्सव को अभी दो सप्ताह ही हुए थे कि चातुर्मास की योजना समाज के गणमान्य लोगों द्वारा सुनिश्चित की जाने लगी। विचारोपरांत यह निर्णय हुआ कि इस चातुर्मास को अजमेर में ही सेठ भागचन्द्र जी की नसिया में सम्पन्न कराया जाये। गुरुवर ज्ञानसागर के समक्ष समाज के लोगों ने जब अपना प्रस्ताव श्रीफल भेंटकर निवेदित किया तो गुरुवर ज्ञानसागर जी ने भी अपनी सहमति प्रकट की। अर्थात 1968 का 'मुनिविद्यासागर' का प्रथम चातुर्मास ज्ञानसागर के सान्निध्य में अजमेर में ही सम्पन्न हुआ। इस चातुर्मास के दौरान 'मुनि विद्यासागर' के दो कार्य ही प्रमुख थे प्रथम गुरुसेवा द्वितीय-शास्त्राध्ययन' उनके आचरण में किसी तरह की कोई गलती न हो इस बात का वे विशेष ध्यान रखते थे। जिस समय मलप्पा जी अजमेर की नसिया में परिवार सहित पहुँचे उस समय विद्यासागर जी मुनिवर के पास बैठकर जिनवाणी का अध्ययन कर रहे थे। मलप्पा जी ने अपना परिचय देते हुए परिजनों का परिचय कराया। ज्ञानसागर जी महाराज को यह अच्छा लगा कि मुनि विद्यासागर को देखकर निश्चित रूप से परिजनों तथा मलप्पा जी को राग के प्रति अनासक्ति का भाव जाग्रत होगा। माता-पिता ने अपने पुत्र को मुनिरूप में देखा तो ममता के आंसू टप-टप गिरने लगे, लेकिन उनके यह आँसू विषाद के नहीं हर्ष के थे। भाई-बहिन को भी कुछ झिझक की

अनुभूति हुई वे संकोच का अनुभव कर रहे थे लेकिन बड़ी जल्दी यह झिझक और संकोच दूर हो गया। भाई की इस मुद्रा को देखकर उसके महिमामयी आभामण्डल को निहारकर मन में अपारशांति की अनुभूति हुई। मलप्पा जी के साथ सदलाग से विद्याधर का सहपाठी मारूति भी आया था, जब उसने अपने मित्र को मुनिवेष में देखा तो वह मन ही मन विचार करने लगा कि विद्याधर तूने अपनी उम्र से ज्यादा ऊँचाई प्राप्त कर ली है और एक मैं हूँ जो कितना नीचे पड़ा हूँ ? इस तरह का बोध कभी-कभी जीवन में आश्चर्यजनक परिवर्तन का हेतु बन जाता है। मुनिवर उसकी भावना को भलीभांति पहचान रहे थे, मारुति ने जब मुनिवर के चरणों में शरण मांगी तो महाराज ने उसे भी ब्रह्मचर्यव्रत देकर आत्मतुष्ट कर दिया।

मलप्पा जी ने गुरुवर से आज्ञा प्राप्तकर अपने विद्याधर से एकांत में चर्चा का समय मांगा। परिजनों के साथ मुनि विद्यासागर ने चर्चा तो की पर उस चर्चा में ग्रहस्थ के सम्बन्धों की कोई चर्चा नहीं हुई। प्रेम, ममता, अपनत्व और बिछोह की पीड़ा के भी कोई संवाद नहीं हुए। चर्चा हुई तो केवल धर्म की, आत्मा के कल्याण की, मुक्ति, दर्शन और चरित्र की। क्योंकि मुनि विद्यासागर इस बात को भलीप्रकार से जानते थे कि कहीं भी 'अपनत्व बोध' ने झिझोड़ा तो प्रायश्चित लेना पड़ेगा। इसलिए वे आदि से अंत तक चर्चा के दौरान स्थिर बने रहे। मलप्पा जी ने मुनिसंघ के सान्निध्य में कुछ दिन रहकर खूब धर्मलाभ प्राप्त किया। वे नित्यप्रति मुनिसंघ की आहारचर्या में सम्मिलित होते। स्वाध्याय, सामायिक और धर्माराधन में संलिप्त रहते। लोगों के मुख से बार-बार विद्याधर के दीक्षा समारोह की स्मृतियाँ लोगों के मुख से सुनते। इस तरह मुनिसंघ के धार्मिक परिवेश और 'विद्याधर' की चर्या और धर्माराधन ने उनके अन्तर्मन में वैराग्यभावना का बीजारोपण कर दिया। उनका मन वहाँ पर इतना अधिक रम गया कि एक सप्ताह बीत जाने के उपरांत भी वहाँ से लौटकर अपने ग्रहग्राम सदलगा नहीं जाना चाहते थे। उनके मन में एक बात उन्हें बार-बार कचोट रही थी कि जिसका युवा पुत्र मुनिदीक्षा धारण कर चुका हो और पिता ग्रहस्थ जीवन की वासनाओं में लिपटा हो, उनका मन अशांत था, ग्लानि की पीड़ा उन्हें बार-बार आहत कर रही थी, अत: वे एक दिन गुरुवर ज्ञानसागर जी से निवेदन करने लगे-'महाराज ने उन्हें सहर्ष ब्रत प्रदानकर आशीर्वाद दिया। उपस्थित जनसमुदाय को यह जानकर अत्यंत प्रसन्नता हुई कि जहाँ एक ओर पुत्र ने दीक्षा ली तो पुत्र के सहपाठी ने ब्रह्मचर्य व्रत ले लिया और आज पिता जी ब्रहचर्य व्रत को ग्रहण कर रहे हैं। धन्य है ऐसा परिवार जिसके अन्तर्मन में वैराग्य के बीजों का प्रस्फुटन हो रहा है। हम लोग भी अत्यंत भाग्यशाली हैं क्योंकि हमें भी रोज नये व्रती के दर्शन हो जाते हैं।

आचार्य पद से अलंकृत :

मुनि ज्ञानसागर परम तपस्वी और अत्यंत ज्ञानी साधु थे। ज्ञान का अथाह सागर उनके अन्त:करण में हिलोरें मार रहा था। युवावस्था में दीक्षित मुनि विद्यासागर ने तो उन्हें और ही आत्मविभोर कर दिया था क्योंकि वह तपस्वी, साधक, ज्ञानी और सच्चे गुरुसेवक होने के साथ-साथ करूणा से

परिपूर्ण थे। गुरुवर ज्ञानसागर केसरगंज से चातुर्मास समापन से उपरांत नसीराबाद (अजमेर) पहुँच गये थे। नसीराबाद में ज्ञानसागर जी द्वारा मुनि विवेकसागर की दीक्षा सम्पन्न कराई गई थी। बड़ा ही मांगलिक वातावरण था, ऐसे समय में अनुकूल अवसर पाकर सेठ भागचन्द्र सोनी अपने साथ अन्य अनेक गणमान्य श्रेष्ठिजनों को लेकर गुरुवर के पास पधारे और निवेदन किया कि यह समाज आपको आचार्य पद से अलंकृत कर उपकृत होने का सौभाग्य प्राप्त करने के लिए लालायित है, गुरुवर ने पहले तो इस आग्रह को स्पष्टतः अस्वीकार कर दिया लेकिन जब समाज ने बार-बार अपने निवेदन को दोहराते हुए आग्रह की सीमाऐं-लांघ लीं तब गुरुवर ने अपनी औपचारिक सहमति प्रदान की। फिर क्या था ? सर्वत्र एक आनंदभरा उल्लास का वातावरण निर्मित हो गया और फिर समारोह पूर्वक फाल्गुन कृष्ण पंचमी, वि.सं. 2025 अर्थात् 7 फरवरी 1969 को मुनिज्ञानसागर आचार्य ज्ञानसागर कहलाने लगे।

सन् 1969 में केसरगंज के चातुर्मास के उपरांत सन् 1970 का चातुर्मास किशनगढ़ (जयपुर) में हुआ। सन् 1971 का चातुर्मास मदनगंज-किशनगढ़ (अजमेर) में सम्पन्न हुआ। सन् 1972 का चातुर्मास अपने आपमें अत्यंत महत्वपूर्ण इसलिए बन पड़ा क्योंकि इस चातुर्मास के दौरान मुनि विद्यासागर आचार्य पद से अलंकृत हुए। आचार्य ज्ञानसागर इस समय लगभग 80 वर्ष की आयु पूर्ण कर चुके थे जबकि मुनि विद्यासागर की आयु अभी केवल छब्बीस वर्ष की ही थी। गुरु को अन्तःप्रेरणा हुई कि मुनि विद्यासागर चिंतन, मनन, ज्ञान, विशुद्धि, वक्तव्य-कला की कसौटी पर पूर्णतया खरे साबित हो चुके हैं। अतः उन्हें आचार्य पद सौंपकर निरापद्रभाव से सल्लेखना क्रिया में संलग्न हुआ जाये तो सर्वोत्तम होगा। जब गुरुवर की अन्तःप्रेरणा ने जब उन्हें हर तरह से आश्वस्त कर दिया तो एक दिवस आचार्य ज्ञानसागर जी ने मुनि विद्यासागर के समक्ष अपने मन की बात कही। तब युवा मुनि विद्यासागर ने अत्यंत विनम्रभाव से गुरुवर के चरणों में साग्रह निवेदन किया।

''गुरुवर! आप ज्ञान के अगाध सागर हैं, आप आयु तपोवृद्ध भी हैं, मैं आपका शिष्य अवस्था में अल्प, शास्त्र-ज्ञानार्थी और अनुभवहीन हूँ अतः मैं इस गरिमामय आसन के उपयुक्त नहीं हूँ आप महान् वटवृक्ष हैं, जिसकी शांत शीतल-छाया में हम सभी ज्ञानार्जन करते हैं, सम्यक् चारित्र का पाठ पढ़ते हैं तथा मोक्षमार्ग की गहन ग्रन्थियों को सुलझाते हैं। आप मुझे इस अधिकार से वंचित न कीजिये। दस दिवस तक यह आग्रह-अनुग्रह चलता रहा। मुनि विद्यासागर एक दिन अधिक विकल हो पड़े। समाज ने भी उन्हें समझाया कि गुरुवर ने कुछ सोच समझकर ही यह प्रस्ताव रखा है, परन्तु मुनि विद्यासागर के ऊपर कोई असर नहीं हुआ, वे टस से मस नहीं हुए।''[18]

आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज द्विविधा में पड़ गये। संकल्प-विकल्पों ने आकर जिरह करना, प्रारंभ कर दिया। परन्तु वे अपनी आयु, संघ के साधुओं का अनुशासन और सामाजिक हित की बात सोचकर आचार्य पद से शीघ्रातिशीघ्र निर्मुक्त होना चाहते थे। अतः उन्होंने ज्ञान के उस रूप का प्रयोग

किया, जो विचित्र परिस्थितियों में प्रेरित कर समस्या का निदान बतला देता है। गुरुवर आचार्य की मुखमुद्रा खिल गई और उन्होंने अपने सुशिष्य को बुलाकर कहा-''मैं अत्यंत वृद्ध हो गया हूँ, जीवन नश्वर है अतः अगले क्षण का भी पता नहीं, गुरु तुमसे गुरू दक्षिणा चाहता है, दे सकोगे ? मुनि विद्यासागर समझ न सके और सहसा कह बैठे 'गुरुवर! मैं आपका अकिंचन दास हूँ, सर्वस्व छोड़कर त्यागी बना हूँ, हाँ, जीवन है, आपकी आज्ञा पर मैं उसे न्यौछावर कर सकता हूँ।''

मुनि विद्यासागर के कथन से यह सहज ही भासित हो रहा था कि वे गुरुवर की आज्ञा का हरहाल में पालन करेंगे। अवसर को अनुकूल पाकर आचार्य ज्ञानसागर जी ने अपने अन्तर्मन के भावों को अभिव्यक्त किया। वे बोले कि-''विद्या मैं ही नहीं सारा संघ और समाज चाहता है कि तुम शीघ्रतिशीघ्र मेरे स्थान को ग्रहण कर लो, इसी में संघ और समाज का भला है। प्रबुद्ध शिष्य मुनि विद्यासागर जी को गुरुवर के कथन का आशय शीघ्र ही समझ में आ गया। वे गुरुवर के चरणों में सिर रखकर अश्रु प्रवाहित करने लगे। गुरु ने अशेष स्नेह की वर्षा करते हुए अपने वृद्ध हाथों से उन्हें उठाया, आशीर्वाद दिया और अपने प्रबोधन से उन्हें आश्वस्त किया, अन्ततः गुरुआज्ञा को वे नकार नहीं सके। उपस्थित जनसमुदाय और संघस्थ साधुओं ने जब यह दृश्य देखा तो उनकी आँखें सजल हो उठीं। अब सभी ने अपने आपमें यह आशा संजोली की अब मुनि विद्यासागर ही संघ के भावी संचालक होंगे।

फिर क्या था ? आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज ने नसीराबाद के चातुर्मास समाप्त होने के उपरांत उसी स्थान पर 22 नवम्बर 1972 को गुरु के द्वारा शिष्य को आचार्य पद से अलंकृत करने की अत्यंत प्रसन्न मुद्रा में घोषणा कर दी। सर्वत्र यह समाचार जंगल में अग्नि की तरह फैल गया। आचार्यवर के इस निर्णय से सभी आश्चर्यचकित हुए पर उन्हें गुरुवर के निर्णय से भारी प्रसन्नता और अत्याधिक संतोष की अनुभूति हो रही थी। जगह-जगह से लोग भारी संख्या में निश्चित तिथि को मुनि विद्यासागर के आचार्य पद अलंकरण समारोह को देखने के लिए नसीराबाद में उमड़ पड़े। नेत्रों को सार्थकता प्रदान करने के लिए।

समारोह की शोभा देखते ही बनती थी। आडम्बर से हीन तथा धर्मप्रभावना से युक्त इस आयोजन में जैन-अजैन सभी एकत्रित होकर धर्मलाभ लेने की होड़ में लगे हुए थे। अद्भुत दृश्यथा-''जब मुनि विद्यासागर को गुरुवर ने अपने कर कमलों से मंत्रोच्चारण के साथ मुनि विद्यासागर को आचार्य पद से विभूषित कर दिया। शास्त्रोक्त परंपरा के अनुसार अब आचार्य ज्ञानसागर मुनि ज्ञानसागर और मुनि विद्यासागर आचार्य विद्यासागर हो गये थे। मुनि ने आचार्य को आचार्य पद पर आरोहण कराया तो उपस्थित जनसमुदाय जय जयकार कर उठा सभी की आँखों में हर्षातिरेक के कारण आँसू छलछला उठे। इस पावन अवसर को देखकर सभी ने अपने आपको पुण्यशाली माना और विचार करने लगे कि धन्य हैं ऐसे गुरु जिन्होंने अपने गुरु पद का परित्याग कर शिष्य को स्वयं गुरु बना दिया हो।

आचार्य पद पर पदासीन कराने के उपरांत अपनी पिच्छी आचार्य विद्यासागर जी महाराज को देकर तथा उनकी पिच्छी स्वयं लेकर उनसे नीचे के पट्ट पर आसन ग्रहण किया। अपरिमित ज्ञान के अगाध भण्डार, सौम्यता की प्रतिमूर्त्ति, एक दाम निरभिमानी और अत्यंत विनम्र आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज के इन शब्दों को श्रवण कर तो मानों उपस्थित जनसमुदाय के धैर्य का बांध ही टूट गया, वे बोले-भो आचार्य! अब आप मेरे आचार्य हैं और मैं आपके संघ का एक मुनि। अब आपका हर आदेश मुझ पर भी अन्य संघस्थ साधुओं की तरह ही लागू होगा। आप ही आचार ग्रहण करायेंगे तथा शास्त्र की ग्रन्थियों को सुलझायेंगे। इस संघ का संचालन आपके सुदृढ़ हाथों में होगा। मैं अब समाधिमरण पूर्वक संल्लेखना-संकल्प को ग्रहण करने का इच्छुक हूँ।''19

''श्रमण परम्परा के इतिहास में यह संभवतया ऐसी प्रथम घटना थी जब किसी जैनाचार्य ने जीवित अवस्था में अपने ही कर कमलों से अपने शिष्य को आचार्य पद प्रदान किया था और नूतन आचार्य के आज्ञानुरूप स्वयं मुनि-वृत्ति का परिपालन किया था।''20

इस अल्हादकारी दृश्य के अवसर आचार्य विद्यासागर जी महाराज ने जो संक्षिप्त प्रवचन दिया उसका साररूप कुछ इस प्रकार से था-''मैं तो गुरुभक्त हूँ, आपकी कृपा और पुण्य प्रताप से मुझे इस चतुर्विध-संघ की सेवा का अवसर प्राप्त हुआ है जिसके निर्वहण के लिए में यथाशक्ति प्रयत्न करूँगा'' 21

यह समारोह आश्चर्य किन्तु सत्य घटना बनकर लोगों के दिलोदिमाग में एक ऐसी मिठास पैदा कर गया जिसकी अनुभूति कर लोग आज भी सिहर उठते हैं। मुनि ज्ञानसागर जी ने समाधि के निमित्त सल्लेखना ग्रहण कर ली। यह सल्लेखना की प्रक्रिया अनवरत् सात माह तक चलती रही, जिसमें मुनि ज्ञानसागर जी ने एक संघ के सदस्य के रूप में चरित्र का पालन किया तथा आचार्य विद्यासागर जी ने उनकी सल्लेखना काल में अपने श्रेष्ठ आचार्यत्व के गुणों का पालन किया। इस सल्लेखना को जिसने भी देखा उसने यही कहा कि आचार्य शान्तिसागर जी महाराज की सल्लेखना के उपरांत श्रेष्ठ सल्लेखना यदि किसी ने ग्रहण की है तो वह मुनि ज्ञानसागर जी की ही है। इस श्रेष्ठता के हेतु बने आचार्य विद्यासागर। उन्होंने अपने गुरु की सेवा जिन उदात्तभावनाओं से की, वैसा सुयोग शायद कभी बन सके।

(क) परमार्थिक सत्ता का स्वरूप :

भारतीय दर्शनों में जैन दर्शन का अपना विशिष्ट स्थान है। क्योंकि इस दर्शन की मान्यताऐं अन्य दर्शनों की अपेक्षा कुछ भिन्न हैं, जैन दर्शन की मान्यता है कि सृष्टि को उत्पन्न करने वाला तथा विनाश करने वाला कोई नहीं, क्योंकि वह अनादिनिधन है। इस सृष्टि में रह रहे छहः दृव्यों के अस्तित्व को

चुनौती देने वाला कोई नहीं, जीव, पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छःहों की सत्ता को मिटाया नहीं जा सकता, हाँ इनमें परिवर्तन अवश्य होता है। परिवर्तन होते हुए भी मूलतः उनकी सत्ता ध्रुव (कायम) रहती है। इस दर्शन के अनुसार 'सत्' का लक्षण ही उत्पाद व्यय ध्रौव्य है। वस्तु की इस त्रिलक्षणा को कहीं-कहीं आचार्यो ने द्रव्य पर्यायात्मक रूप से भी कहा है। द्रव्य में ध्रुवता तथा पर्याय में उत्पाद व्ययपना गर्भित है। द्रव्य के बिना पर्याय में उत्पाद व्ययपना गर्मित है। द्रव्य के बिना पर्याय नहीं और पर्याय के बिना द्रव्य नहीं। उत्पाद व्यय पर्याय अर्थात परिण का सूचक है और धौव्य स्थिरता का सूचक है। जैसे कि समुद्र की उत्ताल तरंगें उत्पन्न होती हैं और उसी में समाप्त हो जाती हैं किन्तु समुद्र की ध्रुवता में कोई अन्तर नहीं आता वैसे ही द्रव्य (पदार्थ) में उत्पाद व्यय घटित होते हैं पर मूल द्रव्य ज्यों के त्यों कायम रहते हैं। इस प्रकार सृष्टि का क्रम अनादिकाल से प्रवाहमान है।

जैन दर्शन में ईश्वर या परमात्मा की उपासना का अपना एक अलग ही महत्व है। ईश्वर की आराधना केवल अराधना के लिए नहीं बल्कि उन जैसा बनने के लिए है। भक्त सदा भक्त ही बना रहे। यह इस दर्शन के लिए कदापि मान्य नहीं है। वह भगवान ही क्या, जिसकी भक्ति या आराधना करने से भक्त भगवान नहीं बनता। जैन दर्शन में भगवान बनते है, क्योंकि आत्मा की उस परम विशिष्ट शक्ति में उसका अगाध विश्वास है। आत्मा के स्वभाव में भगवान बनने की शक्ति उसी तरह छिपी है जिस तरह बीज में वृक्ष निहित है। बीज को सिचिंत भूंमि में बोकर जब उसकी भली प्रकार से सुरक्षा की जाती है तब वही कालान्तर में वृक्ष का विशाल आकार ग्रहण कर लेता है जिसकी सुखद कल्पना ही मनुष्य को आश्चर्य में डाल देती है। जैन दर्शन के अनुसार यह आत्मा ही परमात्मा है। भक्त को भगवान होने के लिए वही मार्ग अपनाना होता है जो पूर्व में भगवान ने अपने लिए चुना था। अतः यह दर्शन जीव को ईश्वर की गुलामी से छुड़ाकर उसे स्वाबलम्बी बनने के लिए प्रेरणा प्रदान करता है।

जैन दर्शन की मान्यता है कि अपनी शक्ति का विश्वास किये बिना किसी भी कार्य की सिद्धि नहीं होती। इस दर्शन में जिन तीन बातों पर विशेष बल दिया गया है वे हैं दर्शन, ज्ञान और चारित्र। इन तीनों को 'रत्नत्रय' की संज्ञा दी गई है। ये 'रत्न' इस मायने में हैं कि इन तीनों के आधार बिना व्यक्ति परमार्थ की सिद्धि तो क्या लौकिक कार्यों की भी सिद्धि नहीं कर सकता।

'कर्म' में इस दर्शन की गहरी आस्था है। 'कर्म' का फल आज नहीं तो कल निश्चित प्राप्त होगा। श्रमण संस्कृति की यह विशिष्ट देन ही मानी जायेगी जिसके कारण व्यक्ति जीवन में निष्क्रियता को धारण नहीं करता। जैसा कर्म किया जाता है वैसा ही फल भोगना पड़ता है। यदि किसी व्यक्ति ने अपने जीवन में कडुए कर्म के बीज बोये हैं तो फिर उसे मधुर फल की आशा करना व्यर्थ है। प्रकृति के इस अटल नियम को आज तक कोई चुनौती नहीं दे सका है। यही कारण है कि जैन दर्शन व्यक्ति की कर्म कुशलता में विश्वास करता हुआ उसे शाश्वत् सिद्धि का मार्ग सुझाता है।

'अनेकांत' इस दर्शन का प्राण है।' अनेक अन्ता: धर्मा यस्यासौ अनेकान्त:' जिसमें अनेक अन्त कहिये धर्म पाये जाएं उसे अनेकान्त कहते हैं। जैनाचार्यों ने प्रत्येक वस्तु को अनेकांत मयी कहा है। उसका स्वरूप ऐसा है कि जो वस्तु तत्वस्वरूप है, वही अतत्वस्वरूप है। जो एक है वही अनेक है जो सत् है वही असत् है और जो नित्य है वही अनित्य है। एक ही वस्तु तत्व को प्रतिपादन करने वाला एवं परस्पर शक्तिद्रव्य को प्रकाशित करने वाला यह 'अनेकांत' है।

अनेकांत में दुराग्रह को स्थान नहीं रहता जबकि एकांत में दुराग्रह और दृढ़ रहता है। इस एकांत दुराग्रहपूर्ण ज्ञान रखनेवालों में अंधो के हाथी के एक एक अवयव को ही हाथी मान लेने वालों की तरह परस्पर में अविवेकपूर्ण कलह और संघर्ष होता है। हाथी के एक-एक अवयव को ही हाथी मान लेने से दुराग्रह के कारण जैसे उन अंधों में से किसी को भी हाथी का बोध नहीं होने पाता वैसे ही जीव अजीवादि तत्वों में रहने वाले नित्य अनित्यादि अनेक ग्रंथों का विवेक यदि स्याद्वाद्व दृष्टि से नहीं किया जाता है तो तत्व का यथार्थबोध नहीं होता। और मनुष्य अज्ञानान्धकार में निरन्तर भटकता रहता है। आत्मस्वरूप(धर्म) की प्राप्ति उसे कभी भी नहीं होने पाती।

जैन धर्म में प्रतिपादित अनेकांत दृष्टि जहाँ समाज और व्यक्ति के बीच होने वाले संघर्षो को दूर कर उनमें समन्वयता और स्नेह की भावना उदित करती है वहाँ तत्व निर्णय में वह समस्त एकांत मिथ्या दोषों का एवं विरोधो का परिहार कर दार्शनिक जगत में सत्य का उद्घाटन करती है एवं विवेक के प्रकाश में आत्मा को समुज्जवल पथ का निर्देशन कराती है।

अनेकांत जैन जगत के लिए एक अमूल्य देन है। यह सम्यक्ज्ञान का प्रकाश पुञ्ज है। परमागम का बीज है, विवेक बुद्धि का बल प्रदाता है तथा धर्म की आधार शिला है।

अहिंसा :

अहिंसा जैन धर्म का मूल सिद्वान्त है यों तो अहिंसा का सिद्वान्त प्राय: सभी धर्म अपनाते हैं पर केवल सामाजिक व्यवहार के पालन के लिए । लेकिन जैन सिद्वान्त तो अहिंसा को 'परमोधर्मा: अहिंसा' अर्थात् परम् धर्म मानता है। यही कारण है कि जैन सन्तों ने अहिंसा भावना का मूलरूप में चित्रण किया है। आचार्यो का मानना है कि रागादि भावों की उत्पत्ति नहीं होना ही अहिंसा है और राग-द्वेष, काम-क्रोधादि भावों की आत्मा में उत्पत्ति होना ही हिंसा है। जिनागम के अनुसार यही संक्षिप्त अहिंसा की सार सम्बन्धी विवेचना है। इसका तात्पर्य यही है कि आत्मा की स्वभाव च्युति वैभाविक विकार मय परिणति ही हिंसा है और स्वभाव स्थिरता स्वाभाविक परिणमन ही अहिंसा है। आत्मा का यह स्वाभाविक परिणमन ही परब्रह्म परमात्मा स्वरूप है। इस तरह 'जैन सिद्वान्त' हिंसा आत्म परपीड़न

के कारण स्वरूप भावों को ही हिंसा बतलाता है। तथा इन भावों के अभाव में कोई भी आत्मा पूर्ण अहिंसक हो सकता है।अहिंसा की इस साधना के लिए मन,वचन और काय की प्रवृत्ति को सतत् नियमित रखने और सर्वत्र अप्रमाद यत्नाचार वर्तने का विधान किया गया है। क्योंकि प्रमादी पुरूष पहले आत्मा द्वारा आत्मा की हिंसा करता है दूसरे प्राणियों की हिंसा हो या न हो परन्तु सतत् सावधान व्यक्ति जो अपनी आत्मा को रागद्वेषादि विकारों से बचाने में प्रतिक्षण जागरूक है वह यद्यपि लोक स्थिति में वर्तता हुआ जन्तुओं से भरे लोक में द्रव्य हिंसा से बच नहीं सकता है तो भी वह अहिंसक ही हैं।

इस प्रकार अनेकांत और अहिंसा जैन धर्म के ऐसे मौलिक रत्न है जो जीवन में परमात्मतत्व का सतत् प्रकाश विकीर्ण करते रहते हैं।

(ख) जीव :

'जीव' अनेक योनियों में भ्रमण करता है। शास्त्रोक्त दृष्टि से ये योनियां 84 मानी गई हैं। जीव जातियों का विभाजन मुख्य रूप से चार अपेक्षाओं से किया जाता है - गतियों की अपेक्षा, इन्द्रियों की अपेक्षा, प्राणों की अपेक्षा, और काम की अपेक्षा।

(1) गतियों की अपेक्षा से जीव चार प्रकार के होते है- नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य तथा देव। इनमें से नारक,मनुष्य तथा देव तो एक ही प्रकार के हैं परन्तु तिर्यञ्च गति का विस्तार अधिक है। क्योंकि इसमें पृथ्वी, तेज, वायु, वनस्पति, कीट, पतंग, पशु-पक्षी सभी तिर्यञ्च के अंतर्गत आते हैं। जीवों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म राशियाँ भी इसी के अंतर्गत आती हैं।

(2) इन्द्रियाँ पाँच मानी गई है- स्पर्शन, रसना, ध्राण, नेत्र, कर्ण। पाँचों इन्द्रियों को धारण करने वाले मनुष्य और पशु-पक्षी पंचेन्द्रिय जीव कहलाते हैं। इनमें से मनुष्य के पास 'मन' रूपी एक छटवीं इन्द्रिय होती है इसीलिए इन्हें 'संज्ञी' कहा जाता है।

(3) प्राण 10 माने गये है। अर्थात अपर्युक्त पाँच इन्द्रियों के अलावा मन, वचन, काय, श्वासोच्छ वास और आयु। इनको धारण करने के कारण जीव प्राणी कहलाते हैं।

(4) काय कहते है शरीर रूप परमाणु-पिण्ड को। इसकी अपेक्षा से जीव दो प्रकार के होते है-स्थावर तथा त्रस। भय का कारण उपस्थित हो जाने पर जो स्वयं अपनी रक्षार्थ भागने दौड़ने के लिए समर्थ नहीं हैं वे स्थावर कहलाते हैं। तथा इस तरह की सामर्थ्य को रखने वाले जीव 'त्रस' कहलाते है।

मानव जीवों में इस समस्त प्रकार के भेदों-उपभेदों में एक मनुष्य ही है जिसे स्थूल रूप में 'जीव' माना जाता है। इसी जीव की खातिर सारे भौतिक और धार्मिक उपक्रमों को संवारा जाता है। यह मानव जीव अनंत योनियों में भटकने के उपरांत मनुष्य योनि को धारण करता है। यह 'मनुष्य' का जीवन

उसे बड़ी मुश्किल से प्राप्त होता है। पर वह इस दुर्लभ जीवन को प्राप्तकर सांसारिक माया-मोह के

बंधनों में फँसकर अपने आपको भूल जाता है। उसे जिस 'मैं' की पहचान के लिए अपना पुरूषार्थ करना चाहिए था। उसे वह विस्मृत कर देता है। मैं कौन हूँ,? कहाँ से आया हूँ? क्या करना है? और फिर कहाँ जाना है? इन प्रश्नों के नजदीक आते आते उसका जीवन चुक जाता है। पर 'जैन दर्शन' उसे सचेत करता है। उसे जीवन का शाश्वत् बोध प्राप्त करने की प्रेरणा देता है। उसके 'ज्ञानचक्षु-खुल जाते हैं। वह परम सौभाग्य से वीतरागी प्रभु की शरण में पहुँच जाता है, उसका सारा भ्रम एक बार ही टूट जाता है। उसे अपने आप पर हँसी आती है कि मैं अब तक कितना भटका? उसे आभास होने लगता है कि भ्रम की अज्ञात शक्ति मेरे पीछे पड़ी थी जिसके कारण में अब तक प्रभू की शरण में नहीं आ सका। गुरू के प्रसाद से भ्रम दूर हो गया और उस परम् सत्ता का आभास हो गया जो मेरे अत्यंत निकट है पर जिसे में बाहर-बाहर खोजने में लगा हुआ था।

उस परमतत्व का नाम 'मैं' है। इसी को आगम की भाषा में आत्मा कहते हैं। जितना छोटा शब्द उतना ही महान तत्व। यह आत्मतत्व वास्तव में ज्ञानप्रमाण है। 'ज्ञान' अर्थात चिरज्योति ही उसका स्वरूप है। इसीलिए ज्ञानीजन उसे 'चिन्मात्र' कहते है। यह एक प्रकार का आलोक है जिसकी उपासना में सभी रत हैं। जो इसे जानना चाहता है वह जान लेता है। यह वह महातत्व है जो एक कोनें में सबकुछ समेट लेता है। इसका बखान शब्दों में कर पाना संभव नहीं है। केवल स्वानुभव एवं रसास्वादन स्वरूप है। ज्ञानीजन इसे सच्चिदानन्द, भगवान आत्मा मानते हैं। ज्ञान, दर्शन, वैराग्य, समता, सुख, शांति, वीर्य आदि अनन्त ऐश्वर्य का नित्य उपभोग करते रहने के कारण भगवान है वह स्वयं मेरा निजस्वरूप होने के कारण आत्मा।

''उत्तम गुणाणधामं, सव्वदव्वाण उत्तमं दव्वं।
तच्चाणं परं तच्चं, जीवं जाणेह णिच्छयदो।''[22]

भले ही साधारण जनों को समझाने के लिए 'जीव' नाम से कहा गया हो यह, परन्तु वास्तव में देखा जाय तो सर्वगुणों का धाम यह महातत्व सर्वद्रव्यों में उत्तम द्रव्य है और सर्वतत्वों में उत्तम तत्व है।

यह जीव अनादिकाल से शांति की खोज में भटकता रहा है, वह शांति के लिए जिस जिस का सम्पर्क प्राप्त करता आया है उसे शांति के स्थान पर अशांति ही मिली है। वह सोचता है बड़ी विचित्र बात है कि पुरूषार्थ करूँ शांति का और मिलती है अशांति। पर जहाँ चाह हुआ करती है वहाँ राह मिल ही जाती है। अन्ततः वह शांति के भण्डार वीतरागी गुरू की शरण में पहुँच जाता है। गुरूवर उपदेश देते है कि हे जीव! तू चेतन स्वरूप में आकर इसे खोज, विषय वासनाओं और भोगों में शांति की खोज करना

व्यर्थ है। तुझे भोगों में शांति का भ्रम भले ही होने लगे, पर भोग तो शांति की जगह अशांति को भड़का देते है। फिर इसके लिए तुझे भटकने की आवश्यकता नहीं है। तू तो स्वयं ही शांति का मन्दिर है शांति तेरा स्वभाव है। तुझे अपने पुरूषार्थ को किसी अन्य पदार्थ के उपयोग से हटाकर चेतन को जाग्रत करने में लगाने से शांति मिलेगी जहां कि उसका वास है। अर्थात निज स्वभाव में एकाग्र होना ही शांति प्राप्ति के प्रति स्वाभाविक पुरूषार्थ है। इसी के लिए 'जीव' को सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए।

(ग) जगत :

यह 'जगत' अनित्य और नश्वर है। इसके पीछे भागना मानव की मूर्खता है। संसार के सारे बन्धन व्यर्थ हैं। मोह माया के जाल में फँसकर मनुष्य अपने जीवन को व्यर्थ ही गंवा देता है। इस असार संसार की अनित्यता का बोध जब तक इस मानव को नहीं होता तब तक वह इस संसार में भटकता रहता है। शांति की खोज करते-करते वह इस भ्रम में जीने लगता है कि माया ही उसे शांति की अनुभूति करा सकती है। विषय वासनाओं में ही उसे सच्चे सुख और शांति की प्राप्ति हो सकेगी। यह भ्रम उसका जब टूटता है तब कहीं जाकर चेतन तत्व जाग्रत होता है, वह फिर सच्चे सुख और शांति की खोज में निकल पड़ता है अपने लक्ष्य को पाने के लिए। यह लक्ष्य ही उसके जीवन का वास्तविक गंतव्य है।

मनुष्य जीवन का समग्र अनुभव एक ही तथ्य को स्वीकृत करता है कि सांसारिक भोग विलास और उनके प्रति उत्पन्न राग मनुष्य जीवन की अन्तिम फलश्रुति नहीं है। क्योंकि मनुष्य को इनके द्वारा स्थायी आनन्द की प्राप्ति नहीं हो पाती। कोई मनुष्य चाहे कितना ही वैभवशाली क्यों न हो, उसे कभी न कभी अपने जीवन में उत्पन्न होती हुई रिक्तता का बोध अवश्य होता है। वह ऐसे अभाव का अनुभव करता है जिसकी पूर्ति भौतिक उपायों के द्वारा कदापि संभव नहीं है। यह अभाव उसके आनंद और वैभव को अर्थहीन बना देता है, उसकी समस्त उपलब्धियाँ मूल्यहीन हो जाती हैं। ऐसे समय में अशांति का वातावरण उसके तन मन को मथता चला जाता है। उसे सारा संसार सूना-सूना भाषित होने लगता है क्योंकि "अशांत वातावरणे कुतः सुखम्।" इस अशांति से छुटकारा पाने का एक मात्र उपाय है 'आध्यात्मिक साधना।' अनादिकालीन कर्म सन्तति के कुसंस्कार से संस्कारित, कषाय कालिमा से कलंकित,, रागानुरंजित संसारी आत्मा स्वभावभान के अभाव में आत्मसाधना को क्लिष्ट मानता है। आचार्यों ने आत्मसाधना को सरल करने के लिए 'भक्ति मार्ग' का उपदेश दिया है। तीर्थंकर भगवन्तों ने तथा प्राचीन संत महन्तों ने अध्यात्म की दिशा में बढ़ने वाले अनेक मार्गों का अन्वेषण और अनुसरण किया। उनके असाधारण परिश्रम के कारण अन्ततोगत्वा उन्हें यह अनुभूति भी हुई कि वे सभी मार्ग सनातन सत्य हैं, क्योंकि वे सभी मार्ग एक ही गन्तव्य पर (आत्म साक्षात्कार) पहुँचाते हैं।

कतिपय मार्ग (जैसे ज्ञानयोगादिक) सर्वसाधारण जनों के लिए कठिन हैं, विशेष पुरुषार्थी व्यक्ति ही उन मार्गों का अवलम्बन ले सकते हैं। इस अपेक्षा से भक्ति मार्ग अत्यंत सरल है। भक्ति के

मार्ग पर वे व्यक्ति आसानी से चल सकते हैं जिनमें विपरीत परिस्थितियों में संघर्ष करने की क्षमता न हो, जिनमें संकटापन्न स्थिति में मस्तिष्क पर विवेक का सन्तुलन बनाये रखने की शक्ति न हो, जिनमें स्थैर्यत्व, धैर्यत्व तथा प्रबल पुरुषार्थ करने का बल न हो, उस व्यक्ति को उपर्युक्त गुणों की प्राप्ति के लिए भक्ति मार्ग का अनुसरण करना चाहिए जिससे की उसकी आध्यात्मिक साधना निरापद भाव से पूरी हो सके।

जैनाचार्यों के अनुसार भक्ति निष्काम कर्म है। भक्ति का फल भावों की विशुद्धि और पापों का नाश है। कर्मबन्ध में कारणभूत इन्द्रियां व मन भक्ति के ही प्रभाव से अन्तस् से तन्मय हो जाते हैं। वही तन्मयता आत्मा को चिन्मयत्व की प्राप्ति में निमित्त बन जाती है। यही कारण है कि जैनाचार्य भक्ति को मुक्ति मानते हैं। आचार्य पदमनन्दि स्वामी ने लिखा है-

प्रपश्यन्ति जिनं भक्त्या पूजयन्ति स्तुवन्ति ये।
ते च दृश्याश्च पूज्याश्च स्तुत्याश्च भुवनत्रये॥''[23]

अर्थात जो भव्य प्राणी उर में भक्ति को धारण कर जिनेन्द्र भगवान की पूजा, दर्शन और स्तुति करते हैं वे त्रैलोक्य में स्वतः दर्शन-पूजन व स्तुति के योग्य हो जाते हैं।

फिर 'मोक्ष' की प्राप्ति के लिए जितने आगम वर्णित साधन हैं उन सबमें भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ साधन है। इस असाधारण साधन के द्वारा समस्त पारलौकिक प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं। भक्ति के कारण ही ज्ञानशक्ति बढ़ती है। जिस प्रकार कागज पर सरकारी मुद्रा लगने से वह कागज 'नोट' कहलाने लगता है तथा मूल्यवान हो जाता है उसी तरह ज्ञान पर भक्ति की मोहर लगने से ज्ञान सम्यक् ज्ञान बन जाता है ऐसा ज्ञान ही 'मोक्ष' का कारण बनता है।

कुल मिलाकर यहाँ पर इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि 'भक्ति' मन की उर्वरा भूमि में उपजा हुआ सुन्दर पुष्प है। भक्ति मन की स्वथ्यता का नाम है, भक्ति सुन्दर जीवन की आधारशिला है, भक्ति जीवन का संगीत है। भक्ति आध्यात्मिक जीवन का प्रथम चरण है। भक्ति की शक्ति से ही भक्त एक दिन भगवान बनता है। अतएव आत्म कल्याण की कामना से इच्छुक जीव रुपी नदी को भक्ति रुपी सागर के आँचल में अपने अस्तित्व को विलीन कर देना चाहिए तभी मुक्ति संभव है।

(घ) विरोध स्वरुप :

आचार्य विद्यासागर के साहित्य में दर्शन की मीमांसा विस्तार से की गई है। वेद, उपनिषद्, गीता, चार्वाक, बौद्ध, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदांत दर्शन की जो मान्यताऐं हैं उनसे अपेक्षाकृत कुछ भिन्न मीमांसा आचार्य विद्यासागर जी महाराज ने जैन दर्शन के अंतर्गत की है। यहाँ पर सर्वप्रथम मैं उपर्युक्त सभी दर्शनों के बारे में उनके मूल सिद्धांतों की चर्चा करुँगी तत्पश्चात् आचार्य विद्यासागर द्वारा प्रतिपादित 'जैनदर्शन' के बारे में अपने विचार रखँगी जिससे कि यह स्पष्ट हो सके कि

आचार्य श्री की जैन दर्शन के सम्बन्ध में क्या धारणा रही है?

वेद दर्शनः

1. वेद नित्य हैं अर्थात सृष्टि से पूर्व भी विद्यमान थे। वे स्वयंभूत, स्वयंप्रकाश और स्वयंप्रमाण हैं।
2. जीवात्मा और परमात्मा की एकता से ही परम श्रेय की उपलब्धि हो सकती है।
3. इस जगत का नियंता और अधिष्ठाता चेतन सत्ता है। उस चेतन सत्ता का नाम देवता है।
4. वेद बहुदेववाद में विश्वास रखते हैं तथा मनुष्य के कर्मों का फल प्रदान करने वाला देवता है।
5. प्रत्येक जीव अपने कर्म के आधार पर ही उनके फलोपयोग हेतु पुनर्जन्म लेता है।

उपनिषद् दर्शन :

1. आत्मा अजन्मा, नित्य, शाश्वत् और पुरातन है।
2. ब्रह्म का स्वरुप विज्ञानमय और आनंदमय है।
3. ब्रह्म की उपासना से विशुद्ध मोक्ष और कार्य रुप जगत की उपासना से मोक्ष रुप फल मिलता है।

गीता दर्शन :

1. कर्मयोग से ही मोक्ष प्राप्ति संभव है।
2. ब्रह्म ही जगत की उत्पत्ति और प्रलय का कारण है।
3. भक्ति, कर्म, उपासना व ज्ञान, ये चार मोक्ष के साधन हैं।

चार्वाक दर्शन :

1. परलोक और मोक्ष, सब मन की भ्रान्तियाँ हैं, मृत्यु ही मोक्ष है।
2. देह आत्मा से भिन्न नहीं है।
3. सृष्टि के समस्त कार्य व्यापारों में ईश्वर का कोई हाथ नहीं है।
4. ईश्वर मोक्ष का प्रदाता नहीं है।

बौद्ध दर्शन :

1. जीवन के चार अनिवार्य सत्य हैं- दुःख, दुःख का कारण, दुःख का अंत, दुःखों के अंत का उपाय।
2. प्रत्येक वस्तु की सत्ता क्षण भंगुर होती है।
3. पुनर्जन्म का सम्बन्ध भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों से है।

न्याय दर्शन :

1. आत्मा निराकार, देशकाल के बंधनों से मुक्त व सीमातीत है।
2. ईश्वर अशरीर है किन्तु वह सर्वज्ञ, शक्तिमान और अनंतज्ञान का भण्डार है।

वैशेषिक दर्शन :

1. पदार्थों का सम्यक् ज्ञान होने से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

सांख्य दर्शन :

1. ईश्वर कर्मों का अधिष्ठाता नहीं है।
2. जगत का अपादान कारण ईश्वर नहीं प्रकृति है।

योग दर्शनः

1. दु:खमय संसार में जीवात्मा के मोक्ष का एक मात्र उपाय योग है।
2. ईश्वर नित्य, अद्वितीय और त्रिकालातीत है।

मीमांसा दर्शन :

1. सृष्टि अनादि व अनंत काल से अस्तित्व में है।
2. ईश्वर के सम्बन्ध में मीमांसक मौन हैं। वे ईश्वर के न तो समर्थक हैं, न विरोधी।

वेदांत दर्शन :

1. जगत का उपादान कारण अज्ञान है।
2. ब्रह्म अद्वितीय है, अर्थात वह सजातीय-विजातीय भेद से रहित है।

जैन दर्शन :

1. जैन दर्शन अध्यात्मवादी दर्शन है। भारतीय दर्शनों में जैन दर्शन का अपना महत्वपूर्ण स्थान है। ''आचार में अहिंसा विचार में अनेकांत वाणी में स्याद्वाद और समाज में अपरिग्रह, जैन दर्शन के ये चार महान् स्तम्भ हैं जिन पर जैन दर्शन का महाप्रसाद खड़ा है।''
2. जैन-दर्शन एक सम्पूर्ण जीवन दर्शन है। यह केवल कमनीय कल्पनाओं के आकाश में विचरण नहीं करता, वरन् उन विमल विचारों को जीवन के प्रत्येक व्यवहार में प्रतिफलित भी करता है।
3. जैन दर्शनाचार्यों के अनुसार संसार की समस्त वस्तुओं में स्थिरता और विनाश दोनों का आवास रहता है। कोई भी वस्तु न तो सर्वदा नित्य कही जा सकती है और न सर्वथा अनित्य ही। सभी में नित्य और अनित्य दोनों की सत्ता विद्यमान रहती है।

जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक आत्मा शक्ति की अपेक्षा परमात्मा के समान है। परमात्मा जीवात्मा से भिन्न है। कर्मबद्ध आत्मा कहलाता है और कर्ममुक्त परमात्मा। रहस्यवाद की प्रक्रिया में आत्मा स्वानुभूति के द्वारा द्रव्यकर्म, भावकर्म और नौ कर्मों का विनाश कर परमात्म पद को प्राप्त कर लेता है''[24] जैनों का परमात्मा न तो अद्वैत है न सृष्टिकर्त्ता।''[25] परमात्मा बनने की प्रक्रिया साधना मार्ग है। आत्मानुभूति अलौकिक होती है, इसकी तुलना संसार की किसी वस्तु से नही की जा सकती। जैन दर्शन में रत्नत्रय (सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र) को साधना मार्ग कहा गया है।''[26] आत्मा की पर पदार्थों में भिन्नता की प्रतीति को सम्यक्दर्शनर्थ''[27] आत्मा के विशुद्ध रुप का ज्ञान सम्यक् ज्ञान''[28] और आत्मस्वरुप में रमण करना सम्यक् चारित्र है। (वही, ढाल-3,2) साधनामार्ग पर आरुढ़

साधक निर्विकल्प समाधि में निमग्न होकर सभी कर्मबंधन को काटकर परमात्मा बन जाता है, जहाँ वह अतीन्द्रिय अलौकिक सुख का अनन्तकाल तक भोग करता है। वह पुन: संसार में लौटकर नहीं आता, न ही सृष्टि की रचना, उसका पालन, संहार आदि ही करता है।''[30]

आचार्य श्री विद्यासागर स्वयं अध्यात्म रस के रसिक हैं। अत: उनके सभी हिन्दी काव्यों में उनकी उदात्त आध्यात्मिक चेतना प्रकृति के विभिन्न उपादानों के माध्यम से अत्यंत सरस रुप में प्रस्फुटित हुई है। उनका सम्पूर्ण काव्य आदि से अंत तक रहस्यवाद से ओत-प्रोत है। उनके हिन्दी काव्य संकलन 'चेतना के गहराव में', 'डूबो मत लगाओ डुबकी', 'तोता क्यों रोता?', 'नर्मदा का नरम कंकर' तथा महाकाव्य 'मूकमाटी' आदि सभी में भिन्न-भिन्न प्रतीकों के माध्यम से कर्मबद्ध परतंत्र जीवात्मा की व्यथा और गुरु उपदेश से सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान एवं चारित्र प्राप्त कर कर्मों के बंधन से मुक्त होकर असीम और अलौकिक आत्मसुख के सागर में गोते लगाने का संदेश मिलता है।

(ड.) उदात्त चेतना के अन्तःस्वर एवं समसामयिक संदर्भ :

आचार्य विद्यासागर की उदात्त चेतना का अन्तःस्वर उनके रचनात्मक कृतित्व में सर्वत्र देखने को मिलता है। आचार्य श्री के प्रवचन तो मानो 'ज्ञान राशि के संचित कोश हैं' उनमें हमें जीवन का यथार्थ, सृष्टि का सार, जीवन का सौंदर्य, मानवता का मर्म, मनुष्य की महिमा और गरिमा, संस्कृति का स्वरुप, सभ्यता का सौंदर्य, मर्यादाओं की थाती, मुक्ति की प्रेरणा, तप और संयम का उत्कर्ष तथा जागरण का शंखनाद सुनाई देता है। उनकी 'मूकमाटी' काव्य, दर्शन और अध्यात्म की अन्यतम् उपलब्धि ही मानी जायेगी। 'मूकमाटी' ने साहित्य जगत में सर्वाधिक हलचल पैदा की है। आज यह कृति साहित्य जगत में उस स्थान की अधिकारिणी मानी जाने लगी है जहाँ कभी प्रसाद की कामायनी, दिनकर की उर्वशी और पंत का लोकायतन हुआ था। इसलिए कि इसमें महाकाव्य की सम्पूर्ण विशेषताऐं होने के साथ-साथ आधुनिक युग की उन मूलभूत समस्याओं का भी उचित समाधान प्रस्तुत किया गया है जो कृति के कालजयी होने के लिए आवश्यक है।

आचार्य श्री ने आत्मदर्शन और काव्यानुभूतियों का अनुपम उपहार साहित्य जगत को 'नर्मदा का नरम कंकर' के रुप में प्रदान किया है। इस कृति में कवि का ऐसा मानना है कि आत्मदर्शन के लिए आत्मदोष दर्शन जीवन की सबसे बड़ी कसौटी है। यह आत्म परीक्षण बड़ा कठिन है। परन्तु मुक्तिपथ का पथिक इस परीक्षण की अनुभूति से वीतरागी आत्मा को अनुभूत कर लेता है। कवि इसी आत्मा को परमात्मा बनने के लिए कृति के माध्यम से सम्बोधन देता है।

ऐसा माना गया है कि एक 'संत' जब कविता के रुप में अपनी आत्मानुभूति को प्रकट करता है तब उसकी वाणी को हृदयंगम करने में अधिक सरलता की अनुभूति होती है। यह बात आचार्य श्री

के 'तोता क्यों रोता?' की कविताओं में स्पष्ट रुप से देखी जा सकती है। यों तो कविता के लिए वैसे भी ब्रह्मानन्द सहोदर' माना गया है। इस दृष्टि से यदि विचार करें तो यह कहना काफी उपयुक्त होगा कि जहाँ आचार्य श्री अध्यात्म-काव्य के द्वारा ब्रह्मानन्द की स्वयं अनुभूति करते हैं वहीं वे जन-जन को भी उसका आस्वादन करा रहे हैं।

अतल गहराईयों की अतीन्द्रिय अनुभूति आचार्य श्री के 'चेतना के गहराव में' काव्य संग्रह में देखने को मिलती है। साहित्यकारों का ऐसा मानना है कि उत्तम साहित्य वही है जो मानव को हित की ओर उन्मुख करे। उसके जीवन का परिमार्जन करे। उसे अंधकार से प्रकाश की ओर ले जाये। असत्य से सत्य की ओर मोड़े। मृत्यु से भयमुक्त कर मृत्युंजयी बना दे और फिर मानवता के भीरर सत्य, अहिंसा, दया, क्षमा, करूणा और ममता के भाव तरंगायित हो उठें। यदि सही मायने में देखा जाए तो साहित्य का यही रूप धर्म साधना से भी निखरता है। 'धर्म' का सही अर्थ भी व्यक्ति को बाहय प्रदूषण से मुक्त कर आत्मा के पवित्र पर्यावरण में ले जाता है। इस व्याख्या से यह बात स्वमेव ही स्पष्ट हो जाती है कि धर्म और साहित्य परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं। तत्सम्बन्ध में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि आचार्य श्री का धर्म चिंतन ही उनकी काव्य-चेतना बन गई है, जिसने सांसारिक प्राणियों को उत्तम काव्य-रस की संजीवनी पिलाकर जीवनदान दिया है।

भक्तिरस में डूब जाने की ललक आचार्य श्री के 'डूबो मत, लगाओ डुबकी' काव्य-संग्रह में देखने को मिलती है। यह कृति कवि के अन्तःकरण की सोच और स्वानुभूति का प्रतिबिम्ब है जिसमें कवि सांसारिक सुखों में डुबकी लगाने की बात तो करता है पर उसमें डूब जाने की मनाही करता है। हम संसार में रहें, पर संसार हमारे अंदर न रहे। गृहस्थ-जीवन को जियें पर उसमें आसक्त न होंये। आसक्ति ही हमारे दुःखों को निर्मंत्रित करती है विरक्ति हमें दुःखों से निजात दिलाती है। आवश्यकता है अपने आचरण को निर्मल बनाने की, उस पर चारित्र्य का रंग चढ़ाने की, फिर तो सभी विकार अपने आप ही झड़ने लगेंगे।

आचार्य विद्यासागर जी महाराज का सृजनात्मक अवदान उनकी अन्तश्चेतना के उदात्त स्वरूप को भाषित करता है। वह समसामयिक जीवन के विविध संदर्भों को लेकर चलने के कारण एकदम प्रासंगिक और उपयोगी है। हम उनके साहित्य के द्वारा अपने जीवन को सुपथ पर ले जाकर अपने आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त कर सकते हैं।

2. जीवनबोध :

प्रेरणा से पथ प्रशस्त होता है। जीवन का लक्ष्य और गंतव्य मिल जाता है। प्रेरणा का प्रभाव इतना प्रभावकारी होता है कि जीवन की दिशा और दशा ही बदल जाती है। विद्याधर बचपन में ही मुनियों

को देखकर अतीव प्रसन्नता की अनुभूति करते थे। उनके प्रवचनों को सुनकर उनके जीवन में परिवर्तन की सुगबुगाहट होने लगती थी। साधुओं की चर्या को देखकर उनके जीवन में अनुशासन की दृढ़ता कायम होने लगी थी। वे धीरे-धीरे सांसारिक असारता का अनुभव करने लगे थे। वैराग्य की भावना ने उनके अदर प्रवेश कर एक विचित्र तरह की छटपटाहट उनके अन्तर्मन में पैदा कर दी थी। वे धीरे-धीरे ईश्वर की सत्ता को सर्वोपरि मानने लगे थे। वे इस बात को अच्छी तरह से जान चुके थे कि 'प्रभु' से मिलने में सबसे बड़ी बाधा यदि कोई उत्पन्न करने बला है तो वह है 'अहंकार'। 'अहंकार' का विसर्जन किये बगैर प्रभु से मिल पाना संभव नहीं, है। उनका मानना था कि जिस तरह नदियाँ अपने अस्तित्व को मिटाकर सागर से मिल जाती हैं उसी प्रकार भक्त भी अपने 'अंह' को गलाकर 'प्रभु' से साक्षात्कार कर सकता है।

सोलह वर्ष की अवस्था में विद्याधर के अन्तःकरण में धार्मिक भावनाओं ने अपना सुन्दर वेश धारण कर स्थायी स्थान प्राप्त कर लिया था। उनके आध्यात्मिक ज्ञान की परिपक्वता लोगों को आश्चर्य चकित करने लगी थी। मुनियों के प्रति तीव्र आकर्षण की भावना उस समय देखी जा सकती थी जब वह पास के गांवों में मुनियों के आगमन की सूचना सुनकर बिना बताये दौड़े चले जाते थे। उनका हृदय पंख लगाकर वैराग्य की दुनियाँ में क्षितिज को छूने के लिए ललचाने लगा था। अब वे संयोग की प्रतीक्षा कर रहे थे। और फिर क्या? जहाँ चाह वहाँ राह अर्थात् विद्याधर को आचार्य देश भूषण जी का आशीर्वाद मिल ही गया। वे आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करने के लिए दृढ़ संकल्पित हो गये। आचार्य श्री ने उदारतापूर्वक आशीर्वाद दे दिया। विद्याधर को जीवन की दिशा मिल गई। वे अपने लक्ष्य की ओर क्रमशः बढ़ते ही गये। स्नेह, प्रेम के बंधन टूटने में बाधाऐं अवश्य उत्पन्न हुई पर वे अडिग रहे। उन्होंने अत्यंत विनम्रतापूर्वक अपने ज्येष्ठ भ्राता महावीर प्रसाद जी से कहा-''मुझे संसार से निकलने दो, मैं मुक्ति के लिए छटपटा रहा हूँ। भला दूध से निकला मक्खन पुनः दूध में समरस कब हुआ है?'' यह कथन विद्याधर का उस समय का है जब परिजनों ने उन्हें घर लौट चलने के अपने सम्बन्धों का वास्ता दिया था। लेकिन सब व्यर्थ क्योंकि विद्याधर का 'जीवन-बोध' जाग्रत हो चुका था। फिर अन्तर्मन में वैराग्य की भावना उत्पन्न हो जाने पर सांसारिक वस्तुओं के प्रति आसक्ति अपने आप समाप्त हो जाती है। विद्याधर का 'जीवन-बोध' जाग्रत हो चुका था। फिर अन्तर्मन में वैराग्य की भावना उत्पन्न हो जाने पर सांसारिक वस्तुओं के प्रति आसक्ति अपने आप समाप्त हो जाती है। विद्याधर ने संसार की समस्त सुख-सुविधाओं का परित्याग कर अध्यात्म को अंगीकार किया। कारण यह था कि उन्होंने सांसारिक असारता, जीवन के वास्तविक रहस्य और साधना के महत्व को भली प्रकार से जान लिया था। विद्याधर की निष्ठा, दृढ़ता, संकल्प और अड़िगता के सामाने सभी ने घुटने टेक दिये।

दिगम्बर वेशधारण करना यद्यपि कठिन कार्य है पर विद्याधर ने इस पथ पर सारी कठिनाईयों का अनुभव ब्रह्मचारी अवस्था में ही कर लिया था। परिस्थितियों और संयोग ने विद्याधर को मुनि ज्ञानसागर जी के पास अजमेर पहुँचा दिया। कुनि ज्ञानसागर ने एक कुशल जैहरी की तरह विधाधर रूपी हीरे की

परख अल्प समय में ही कर ली। उन्हें लगा कि विद्यासागर अत्यंत निष्ठावान, अध्यवसायी, ज्ञान-पिपासु, प्रखरबुद्धि से युक्त तथा प्रतिभाशाली हैं उसकी चर्या और साधना में भी कोई कमी नहीं है। मुनि ज्ञानसागर ने अपने सुशिष्य को नाना रूपों में परख लिया लिहाजा गुरूवर ज्ञानसागर ने ब्रह्मचर्य विद्याधर को मुनि दीक्षा देने का सुनिश्चय कर लिया। और फिर वह मंगलबेला भी आई 30 जून की जिस दिन विद्याधर मुनि विद्यासागर बन गये। भटकन पर विराम लग गया। जीवन का वह सुनिश्चित सत्य जिसके 'बोध' की अनुभूति बिरलों को ही हुआ करती है। पर जिसे हो जाती है वह मुक्तिपथ का अनुगामी बन जाता है।

ज्ञानपिपासा :

आचार्य ज्ञानसागर के मुनिदीक्षा ग्रहण करने के उपरांत 'विद्यासागर' सच्चे अर्थो में -विद्यासागर' बनना चाहते थे। उनका ऐसा विचार था कि मुनि के लिए हरदृष्टि से परिपूर्ण होना चाहिए अर्थात विद्या, ज्ञान और आचरण की दृष्टि से वह पारंगत हो। विद्वता उसके रोम-रोम से टपकती हो। वह शास्त्रों की रग-रग से वाकिफ हो। इसके लिए एकांत और पर्याप्त समय का होना आवश्यक था। संघ में अनेकों श्रावक आते थे। मुनि ज्ञानसागर और विद्यासागर जी को समय देना ही पड़ता था जिससे अध्ययन में बाधा उत्पन्न होती थी। लेकिन जब मिलने जुलने और चर्चा का समय औपचारिक रूप से निश्चित हो गया तो अनेक बाधाएं स्वमेव ही दूर हो गई। मुनिज्ञासागर जी संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान थे उन्होंने युवावस्था में बनारस में रहकर संस्कृत का अध्ययन किया था। वहीं से उन्होंने शास्त्री की परीक्षा उत्तीर्ण की थी। अध्ययन के दौरान उन्हें उस समय जबरदस्त आघात लगा जब किसी विद्वान ने यह कहा कि जैनों के यहाँ कोई तात्विक शास्त्र नहीं हैं। उन्होंने अपने आपको हीनभावना से ग्रसित पाया। तब उन्होंने यह संकल्प किया कि वे इस दिशा में संकल्पभावना से कार्य करेंगे, जिससे विद्वान की उक्त टिप्पणी का सार्थक जबाव दिया जा सके। फिर उन्होंने कठोर परिश्रम और अध्यात्म के एक से बढ़कर एक संस्कृत ग्रन्थों का सृजन किया जिसकी सराहना स्वयं पण्डितों ने भी की है। ज्ञानसागर जी महाराज ने संस्कृत में वीरोदय, दयोदय, भद्रोदय आदि महाकाव्य, चम्पू आदि अनेक काव्यग्रन्थ लिखे जिनमें 'जयोदय' की विद्वानों ने उन्मुक्त कंठ से प्रशंसा की। ऐसे उद्भट संस्कृत विद्वान के चरणों में बैठकर मुनि विद्यासागर ने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, अष्टसहस्त्री आदि न्याय ग्रन्थों को पढ़ा, तत्पश्चात् आचार्य कुन्दकुन्द के रत्नत्रय, समयसार, प्रवचनसार और नियमसार का अध्ययन किया। इसी क्रम में पंचास्तिकाय को भी पढ़ डाला। इसी दौरान उन्हें आँखों की पीड़ा ने अत्याधिक कष्ट पहुँचाया। 'अक्षिवेक्षा' का प्रभाव सम्पूर्ण क्षेत्र में व्याप्त था। वे भी उससे अछूते नहीं रह सके, लेकिन इस पीड़ा को बर्दाश्त करने में उन्होंने अपनी अपरिमित सहनशक्ति का परिचय दिया।

मुनिदीक्षा के पश्चात् पहला चातुर्मास सन् 1969 में अजमेर के निकट केसरगंज में सम्पन्न हुआ। इस चातुर्मास में मुनि विद्यासागर धर्मध्यान, चर्या और अध्ययन मनन की दृष्टि से अत्यंत व्यस्त से हो गये थे। प्रवचन का क्रम भी उनका चलने लगा था। वह वृद्ध गुरुवर की सेवा को वे अपने अन्य कार्यों की

अपेक्षा ज्यादा महत्व देते थे। दूर-दूर से लोग आकर गुरुचरणों में भक्भिावना से धर्मलाभ लिया करते थे। इस चातुर्मास में मलप्पा जी भी सपरिवार रहकर धर्मलाभ लिया करते थे। वे सन्तों की समस्त क्रियाओं में अद्योपान्त भग लेकर अपने अन्तर्मन को अन्दर ही अन्दर परिपक्व करने में लगे हुए थे। उनके साथ उनके पुत्रद्वय अनन्तनाथ और शाँतिनाथ भी जो उस समय अल्पायु अर्थात बारह, चौदह वर्ष के थे वे भी प्रवचनों के ज्ञानामृत का पान कर वैराग्य के रंग में क्रमशः अपने अपको रंगते जा रहे थे। उन्होंने भी छोटी-छोटी धार्मिक क्रियाओं के साथ-साथ व्रतादि भी करना प्रारंभ कर दिये थे। प्रारंभ में प्रवचन मुनि विद्यासागर कन्नड़ भाषा में ही करते थे जिसे वे दोनों भ्राता भली प्रकार से समझ लेते थे।

केसरगंज चातुर्मास के दौरान मुनि विद्यासागर जी महाराज को ब्रह्मचारी पन्नालाल जी की सल्लेखना के दौरान उनकी सेवा सुश्रषा का अवसर मिला जिसे उन्होंने परम कर्त्तव्य मानकर पूरा किया। ब्रह्मचारी पन्नालाल जी ने अँतिम समय में मुनिदीक्षा ग्रहण की थी। यह परामर्श उन्हें मुनि विद्यासागर जी ने ही दिया था। अशक्त जीवन की पीड़ा से जब शरीर अनवरत् वेदना के दौर से गुजरता था तब मुनि विद्यासागर उन्हें धार्मिक चर्चा के द्वारा उनके कष्टों का शमन कर देते थे। ब्रह्मचारी पन्नालाल जी को गुरुवर ने दीक्षा प्रदान कर उन्हें मुनि 'पवित्रसागर' बना दिया था। उनकी सल्लेखना अवधि के दौरान मुनि विद्यासागर उन्हीं की सेवा में तत्पर बने रहे। उनके साधु जीवन का यह प्रथम अवसर जिसने उन्हें एक ऐसी ऊर्जा प्रदान की थी जो मुनि ब्रत धारण करने के उपरांत उनके जीवन के लिए नानारूपों में लाभकारी साबित हुई।

साधना और सर्जना :

गुरूवर आचार्य ज्ञान सागर जी की सल्लेखना (स्वर्गारोहण) के पश्चात् आचार्य विद्यासागर जी की साधना उत्तरोत्तर विकास की ओर अग्रसर होती गई। आप अपने प्रति वज्र से भी कठोर लेकिन दूसरों के प्रति नवनीत से भी मृदु बने रहने की साधना आपकी अनवरत् चलती रही। आपकी साधना के आगे परिषह और उपसर्ग हारते चले गये। 'साधना' के मर्म को जानने के कारण आप प्रतिकूल परिस्थितियों में भी पर्वत की कन्दराओं, ईदगाह के एकांत कोने में, जैन मन्दिर के प्रांगण में ऋतु परवाह किये बिना साधना करते रहते थे।''[31] आपकी साधना 'स्व' को जानने, इन्द्रियों को जीतने और मन को स्थिर करने की साधना बड़ी ही अद्भुत और प्रशंसनीय रही है। श्रम और अनुशासन विनय और संयम, तप और त्याग की अग्नि में तपी आपकी साधना सबके प्रति समता दृष्टि की रही है। सारी सृष्टि में शाँति का साम्राज्य हो यही उनकी साधना का सारतत्व रहा है:-

यही प्रार्थना वीर से, अनुनय से कर जोर।
हरी-भरी दिखती रहे, धरती चारों ओर ''[32]

अपनी साधना में आपने ऋद्धि- सिद्धि तथा तंत्र-मंत्र को कोई स्थान नहीं दिया। वासना पर विजय, भेद भाव की दृष्टि और बुराईयों से लड़ने की साधना, प्रभु की भक्ति और आराधना, समता और संयम के पालन में आप सदैव तत्पर रहे। आप आत्मसाधना में रत रहकर केवल अपने आपको पहचानने की साधना में ही संलग्न रहें-

> **''रहूँ रमूं निज में सदा, भ्रमूं न पर में भूल।**
> **चिदानंद का लाभ लूं, पर को सब कुछ भूल ॥''[33]**

आपकी यह साधना उत्तरोत्तर विकास की ओर अग्रसर होती गई। आप सदैव मन को स्थिर कर मुक्ति मार्ग के साधना पथ पर आगे बढ़ते रहे। आपकी इसी साधना से प्रभावित होकर युवा पीढ़ी आपकी दीवानी हो उठी। वे आपके विचारों, सिद्धान्तों को अपनाने और जीवन पथ को खोजने में लग गये। आपने अपने समत्व भाव के कारण क्षेत्रीयता के दायरे का परित्याग कर आचरणशील, संयम, साधना, और तप को ही ज्यादा महत्व दिया। मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश, कर्नाटक, बिहार, गुजरात, बंगाल, महाराष्ट्र , राजस्थान, पंजाब आदि सम्पूर्ण भारत के साथ ही अफ्रीका (विदेश) में भी आपके शिष्य-शिष्याऐं आपकी दृष्ट्रि के नीचे रहकर आपकी तरह ही श्रम, साधना, तप, घ्यान, नियम-संयम समता पालकर श्रमण संस्कृति (भारतीय संस्कृति) की शोभा बढ़ा रहे है।''[34]

महत्वपूर्ण बात यह है कि आपने उत्तम कोटि की साधना में रत् रहते हुए भी उदात्तकोटि के साहित्य का भी सृजन किया है। ऐसा माना जाता है कि गुरूवर ज्ञानसागर जी महाराज की सल्लेखना के उपरांत आपने उनकी पावन स्मृति में ''आचार्य श्री ज्ञानसागर स्तुति'' की रचना क पश्चात 1973 के चातुर्मास ब्यावर (अजमेर) राजस्थान में ''निजानुभव शतक'' लिखा। सन् 1974 में जब आपका चातुर्मास अजमेर में सोनी जी की नसिया में हुआ उस समय आपने 'श्रमण शतकम्' लिखा। संस्कृत में शतक रूप में यह आपकी पहली रचना थी जो 'आर्याछन्द' में लिखी गई। जिसका पद्यानुवाद 'बसन्ततिलका छंद' में स्वयं आचार्य विद्यासागर जी महाराज ने किया। इसी चातुर्मास में आपने संस्कृत में 'भावना-शतकम्' प्रारंभ किया जिसका समापन सन् 1975 में अतिशय क्षेत्र महावीर जी के सवाईमाधोपुर (राजस्थान) में हुआ । तथा जिसका पद्यानुवाद बसन्ततिलका छन्द में सन् 1975 में ही स्वयं आचार्य विद्यासागर जी महाराज ने फिरोजाबाद(उ.प्र.) में किया।

पं. कैलाशचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री वाराणसी और पं. दरबारीलाल जी कोठिया, न्यायाचार्य, वाराणसी तत्कालीन समय के उद्भट और बहुख्यात विद्वान माने जाते थे। जिस समय आचार्य श्री मदनगंज-किशनगढ़ (अजमेर) में विराजमान् थे उस समय समाज के बहुमान्य सज्जनों ने इन दोनों विद्वानों को आचार्यवर से मिलने के लिए आमंत्रित किया। ये दोनों विद्वान लोकाचार वश आग्रह को अस्वीकार न कर सके और अन्यमनस्क भाव से कुछ समय के लिए वहाँ पधारे जहाँ आचार्य श्री विराजमान थे।

लेकिन जब उन विद्वानों ने आचार्य श्री का पाण्डित्य, चारित्र, सद्‌भाव, साधना और मुखमण्डल पर संयम और तप का तेज देखा और उनकी तत्वचर्चा सुनी तो उन्हें अपने ज्ञान और मान् का भलीभांति बोध हो गया। उनका भ्रम टूट गया, अहं विगलित हो गया और वे अन्तर्मन से आचार्य श्री के प्रति श्रद्धावनत् हो गये। पं. कैलाशचन्द्र जी ने मथुरा से निकलने वाले 'जैन सन्देश' में अपनी संपादकीय के अंतर्गत लिखा कि-"मैंने इन जैसा किसी मुनि के मुख से उपदेश प्रवचन नहीं सुना। एक-एक वाक्य में वैदुष्य झलकता है। अध्यात्मी कुन्दकुन्द और दार्शनिक समन्तभद्र का समन्वय मैंने इन्हीं के प्रवचनों में सुना है। मैं पंचनमस्कार मंत्र की त्रिकाल जाप करता हूँ और 'णमो लोए सव्व साहूणं" जपते समय ये मेरे मानस-पटल पर विराजमान रहते हैं। आज के कतिपय साधुओं की स्थिति विडम्बनाओं को देखकर मेरा यह मन बन गया था कि इस काल में सच्चा दिगम्बर जैन साधु होना संभव नहीं है, किंतु जब से आचार्य विद्यासागर जी के दर्शन किये हैं, मेरे उक्त मत में परिवर्तन हो गया है। जिनका मन आज के कतिपय साधुओं की स्थिति से खिन्न होकर 'णमो लोए सव्वसाहूणं' पद से विरक्त हुआ हो, उनसे हमारा निवेदन है कि वे एक बार आचार्य विद्यासागर जी का सत्संग करें। हमें विश्वास है कि उनकी धारणा में निश्चित ही परिवर्तन होगा।"[35]

साधना और सर्जना का अनोखा संगम जहाँ साधना के तेज से अनेक युवा पीढ़ी के बालक आकर्षित हुए वहाँ मोक्षमार्ग के इस पथिक ने अनेक बहिनों को भी आत्मकल्याण की बलवती प्रेरणा प्रदान की। अल्पायु में ही आचार्य पद, कुछ ही समय में अनेक श्रमण दीक्षाऐं पर शर्त ये कि दीक्षार्थी बाल-ब्रह्मचारी हो। वासना का भँवरजाल जिसे लालयित न कर सका हो। ग्रहस्थ जीवन की ग्रन्थियाँ न पाल रखीं हो। स्नेह और मोह के भ्रमजाल जिसे फँसाने के लिए अपना मायाजाल न फैला रहे हों। आचार्य श्री ने ऐसे ही संयम साधकों को दीक्षाऐं प्रदान की। ये साधु बिल्कुल सौ आने खरे। कहीं किसी प्रकार की कोई शिथिलता नहीं इसीलिए आज भी आचार्य श्री का संघ निर्विवाद रूप से साधना और सर्जना के क्षेत्र में शिखर ऊँचाईयों की ओर अग्रसर है। सर्जना के क्षेत्र में आपके 'मूकमाटी' महाकाव्य ने सबसे ज्यादा विद्वानों के लिए बोलने को विवश किया है। आत्मा से परमात्मा बनने की सतत् यात्रा का संदेश 'मूकमाटी' महाकाव्य ने सबसे ज्यादा विद्वानों के लिए बोलने को विवश किया है। आत्मा से परमात्मा बनने की सतत् यात्र संदेश 'मूकमाटी' के द्वारा श्रावकों को दिया गया है। जीवन के शाश्वत् सत्य की अभिव्यक्ति इस महाकाव्य में देखने को मिलती है। अन्यान्य संदर्भों के रूप में जो विषयगत चर्चा इस ग्रन्थ में की गई है वह आत्मसुख प्राप्त करने वालों के लिए संजीवनी का काम करती है। 'मूकमाटी' के अलावा 'शतक संग्रह', अनेक 'काव्य-संग्रहों' के साथ बीसों ग्रन्थों के पधानुवाद तथा जनमानस को कल्याण मार्ग पर ले जाने 'प्रवचन-संग्रह' आपके ही समान साहित्य-जगत में सूर्य-चाँद की तरह प्रकाशवान हैं।

सन् 1980 में आचार्य श्री समत्तमद्रकृत 'स्वयंभू स्त्रोत' का अनुवाद किया। जिसका अभिधान 'समन्तभद्र की भद्रता' नाम से हुआ तथा जिसको पूर्ण सागर में किया गया। इसी दौरान आचार्य श्री की

शैली में एक असाधारण परिवर्तन आया। बात उस समय की है जब एक बार इन्दौर से डॉ0 नेमीचन्द्र जैन दर्शनार्थ आचार्य श्री के पास आये उन्होंने साहित्य संवाद के दौरान आचार्य श्री से अतुकांत कविता लिखने के लिए आग्रह किया जिसे आचार्यवर ने सहर्ष स्वीकार कर लिया और नूतन विद्या की नवीन कृति के रूप में 'नर्मदा का नरम कंकर' नामक काव्य-संग्रह की रचना प्रारंभ हुई जिसका समापन मुक्तागिरि बैतूल (म. प्र.) के चातुर्मास में सम्पन्न हुआ। सन् 1980 में ही आचार्य गुणभद्र रचित 'आत्मानुशासन' का हिन्दी अनुवाद हुआ जसका नामकरण 'गुणोदय' हुआ। इसका समापन भी मुक्तागिरि में ही हुआ। सन् 1981 में आचार्य समन्तभद्रस्वामीकृत 'रत्नरण्डक-श्रावकाचार' का पद्यानुवाद 'रयण-मंजूषा' के नाम से कुण्डलगिरि (कोनोजी) जबलपुर (म.प्र.) में पूर्ण हुआ। सन् 1981 एवं 82 के चातुर्मास नैनागिरि में सम्पन्न हुए। यही पर सन् 1982 में पात्रकेसरी स्वामी विरचित 'पात्रकेसरी स्तोत्र' का सृजन हुआ। यहीं पर आचार्य श्री ने संस्कृत में 'परीषहजय शतकम्' काव्यग्रंथ लिखना प्रारंभ किया जिसे हिन्दी अनुवाद के साथ पूर्णता सन् 1982 में कुण्डलगिरि (कोनो जी) जबलपुर में मिली। सन् 1983 में आपने सिद्धक्षेत्र श्री सम्मेदशिखर जी के पादमूल ईसुरी (गिरीडीह) बिहार में वर्षावास किया, जहाँ संस्कृत में 'सुनीति-शतकम्' की उपजाति छंद में रचना को पूर्णता प्रदान की जिसका हिन्दी अनुवाद 'ज्ञानोदय छंद' में पूर्ण किया गया। यहीं पर आचार्य समन्तभद्र स्वामीकृत आप्तमीमांसा (देवागम स्तोत्र) का पद्यानुवाद पूर्ण हुआ तथा कुण्डलगिरि (कोनो जी) में पूर्ण हुए 'डूबो मत लगाओ डुबकी' नामक काव्य-ग्रन्थ का अतुकांत छंद में प्रथम प्रकाशन हुआ। सन् 1984 का चातुर्मास पिसनहारी की मढ़िया, जबलपुर (म.प्र.)में हुआ। इस वर्ष अतुकांत छंद में 'तोता क्यों रोता?' काव्यकृति का प्रकाशन हुआ। इसी वर्ष जबलपुर में दूसरी बार आयोजित चतुर्थ 'षड्खण्डागम' की वाचना आरंभ हुई। इस अवसर पर भगवान मुनिसुव्रतनाथ के दीक्षा कल्याणक दिवस के अवसर पर 25 अप्रैल सन् 1984 को बहुचर्चित कृति 'मूकमाटी' की रचना प्रारंभ हुई जिसका समापन सन् 1987 में नैनागिर (छतरपुर) म.प्र. में आयोजित त्रिगजरथ महोत्सव एवं विश्वशांति महायज्ञ के अवसर पर केवलज्ञान कल्याणक दिवस अर्थात 11 फरवरी 1987 को हुआ। काव्य-रचना के सम्बन्ध में आचार्य की यह विशेषता रही है कि उनका चिंतन स्वतंत्र रहा है। एक बार डॉ. प्रभाकर माचवे ने आपसे पूछा कि ''क्याआपने संस्कृत और हिन्दी आदि भाषाओं के विशिष्ट काव्य अथवा महाकाव्यों का अध्ययन किया है जिससे कि 'मूकमाटी' जैसी श्रेष्ठ कृति को लिखने में आप समर्थ हो सके। तब आचार्य श्री ने सहजभाव से उत्तर दिया कि नहीं मैंने हिन्दी महाकाव्यों का अध्ययन किये बिना ही रचना की है। यही कारण है कि इस वृहत् काव्य में कहीं भी भाषा या भाव का अनुवाद या पुनरावृत्ति दृष्टिगोचर नहीं होती। प्रायः कवि या लेखक ऐसा करते हैं कि चलते-फिरते, सोते-जगाते अथवा पढ़ते, विचार करते हुए कोई भाव उद्‌गत हुआ और उसे तत्काल या शीघ्र ही लेखनी बद्ध कर दिया, किन्तु आपने ऐसा कभी नहीं किया। आपके चिंतन का समय अधिकांशतः सामायिक के पश्चात् रात्रिकाल रहता था जिसमें भावसमुद्र लहराता था और वे प्रातः उन भावों को भाषा का रूप दे देते थे।'' 36 मौं अचार्य श्री के जीवन के सम्बन्ध में इस अध्याय के प्रारंभ में ही विस्तार से चर्चा कर चुकी हूँ तथा उनके सृजन के सम्बन्ध में विस्तार से चर्चा अगले अध्यायों में करूँगी। अतः यहाँ पर बस इतना ही।

◆ ◆ ◆

संदर्भ-सूची

1. विद्या सागर भारती, आचार्य विद्यासागर, पृ0-67
2. संस्कृत शतक परम्परा और आचार्य विद्यासागर, डॉ0 आशालता मलैया, पृ0- 234
3. तीर्थंकर(पत्रिका) डॉ. नेमीचन्द्र जैन, पृ0-80 सितम्बर- 1978
4. सागर में विद्यासागर (पत्रिका) डॉ0 पन्नालाल जैन, पृ0-2
5. विद्याकाव्य भारती, आचार्य विद्यासागर, पृ0-70
6. श्रमण भारती, आचार्य विद्यासागर, डॉ0 श्रेयांस कुमार जैन, पृ0-136
7. विद्याधर से विद्यासागर, श्री सुरेश सरल, पृ0-56
8. वही, पृ0-62
9. विद्याकाव्य भारती, आचार्य विद्यासागर पृ0-102
10. महामनीषी आचार्य श्री विद्यासागर: जीवन एवं साहित्यिक अवदान, डॉ. विमलकुमार जैन, पृ0-11
11. वही, पृ0-12
12. वही, पृ0-12
13. एक उगता सूर्य, आचार्य विद्यासागर, नरेन्द्र प्रकाश, 803
14. दोहा-दोहन, आर्चाय विद्यासागर, पृ0-10
15. महामनीषी आचार्य श्री विद्यासागर: जीवन एवं साहित्यिक अवदान, डॉ. विमल कुमार जैन, पृ0-13, 14
16. जैन गजट, साप्ताहिक, 25/3/1965
17. महामनीषी आचार्य श्री विद्यासागर: जीवन एवं साहित्यिक अवदान, पृ0-19
18. वही, पृ0-30
19. वही, पृ0-32
20. वही, पृ0-32
21. वही, पृ0-32
22. शांतिपथ प्रदर्शन, जिनेन्द्रवर्णी, पृ0-48
23. पंचविंशतिका: 6/14
24. परमात्मप्रकाश, पृ0-89, दोहा-2, 3
25. जैन धर्म, पं. कैलाश चन्द्र शास्त्री, पृ0-111
26. तत्वार्थसूत्र, उमास्वामी, 1.1
27. छःहढाला, दौलतराम, ढाल-3,2
28. वही, ढाल-3, 2

29. वही, ढाल-3,2
30. रत्नकरण्डश्रावकाचार, संमतभद्र, पृ0- 133
31. विद्याधर से विद्यासागर, सुरेश सरल, पृ0-89
32. दोहा-दोहन, आचार्य विद्यासागर, पृ0-22
33. वही, पृ0-23
34. आचार्य विद्यासागर, संघ परिचय- मुनि समाधि सागर, पृ0-5
35. तीर्थंकर (मासिक) आचार्य श्री विद्यासागर एवं नैनागिर विशेषांक (वर्ष-18, अंक 7-8) नबम्बर-दिसम्बर, 1978
36. महामनीषी आचार्य श्री विद्यासागर' जीवन एवं साहित्यिक उवदान, डॉ0 विमलकुमार जैन, पृ0-43

◆ ◆ ◆

Contact for
order
Call and
whatsapp
9993602663
7722983010

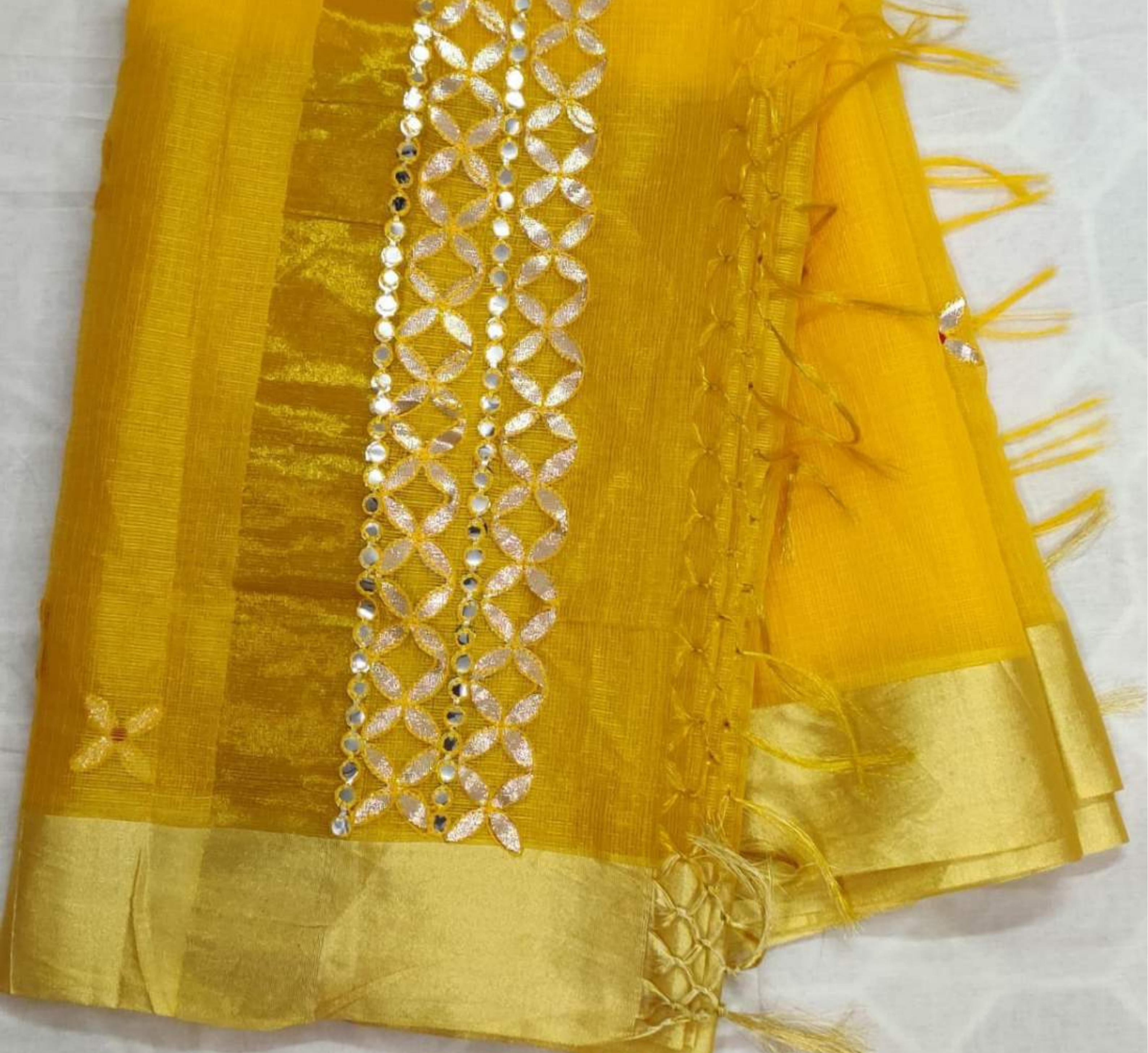

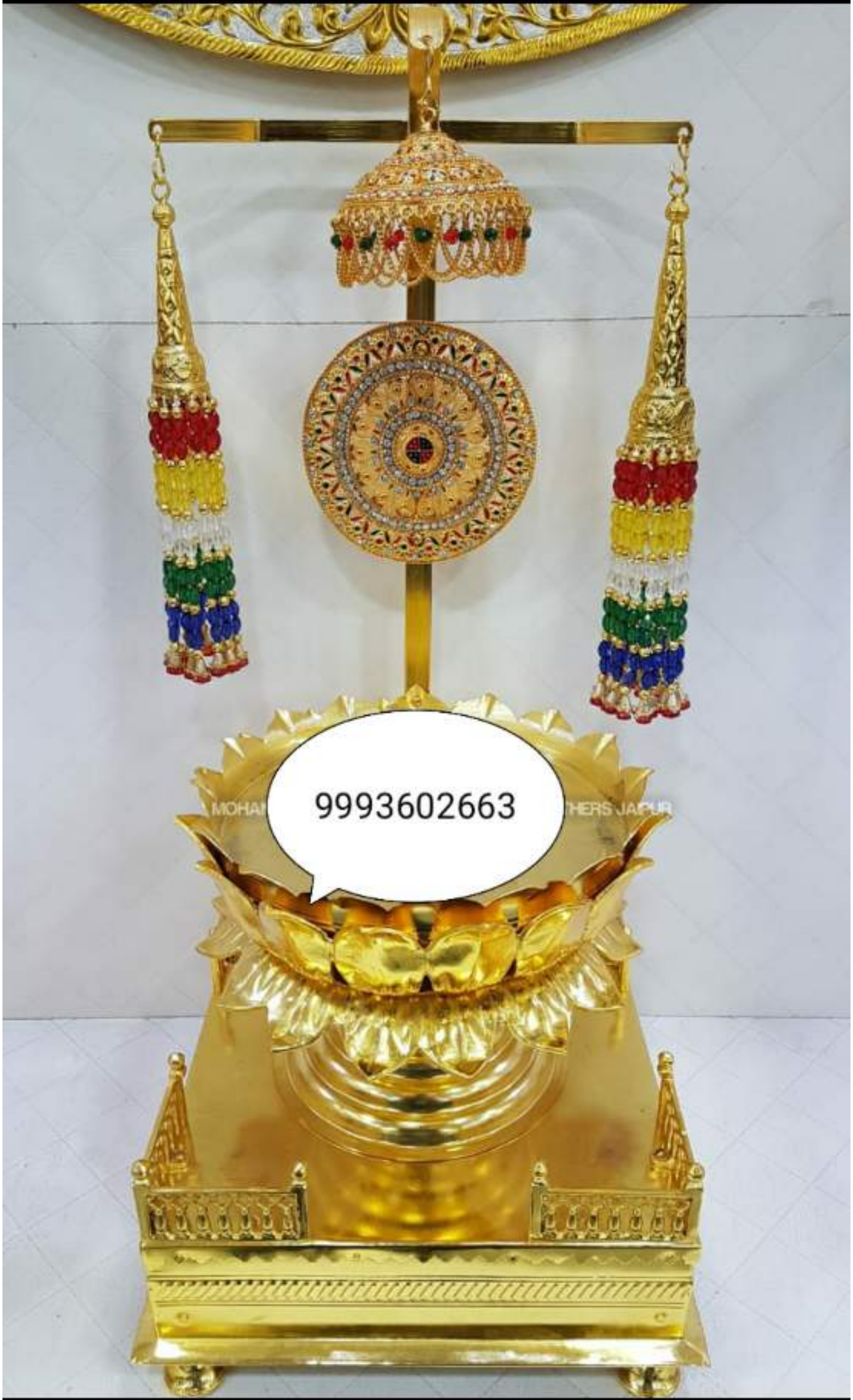
9993602663
MOHAN
THERS JAIPUR

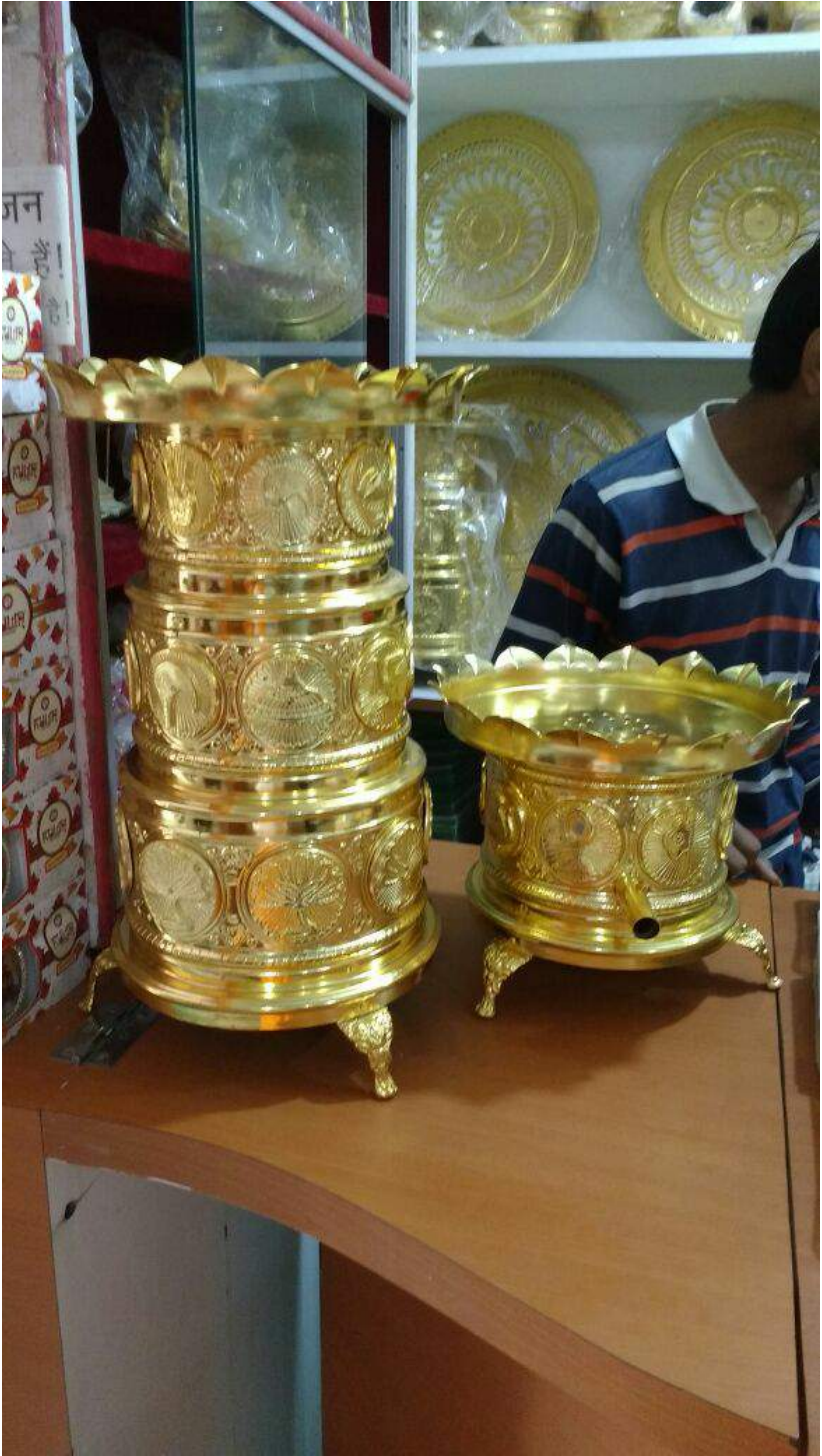
जन
हैं!

पीतल डिब्बा सेट

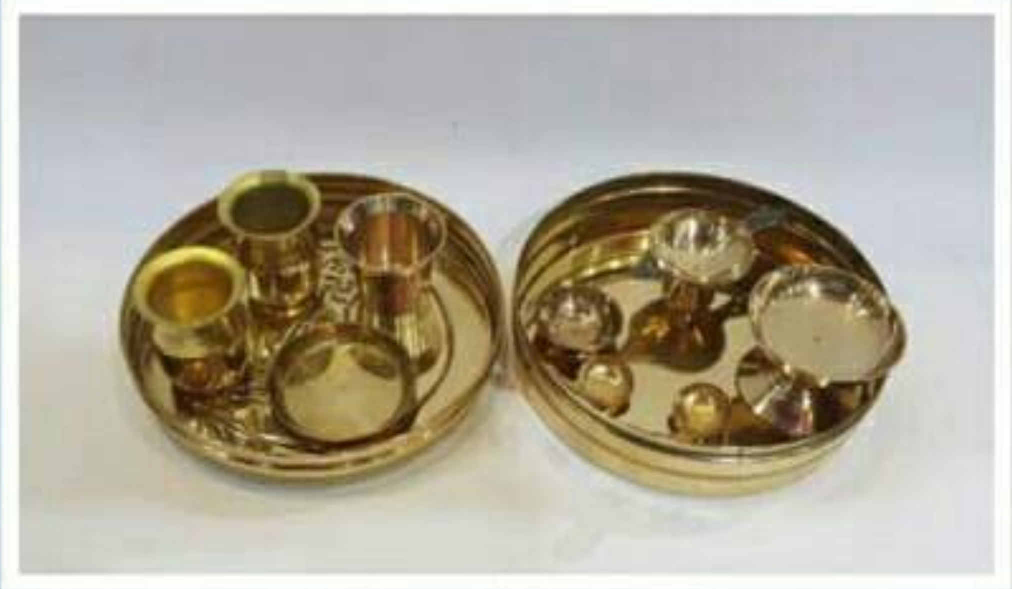

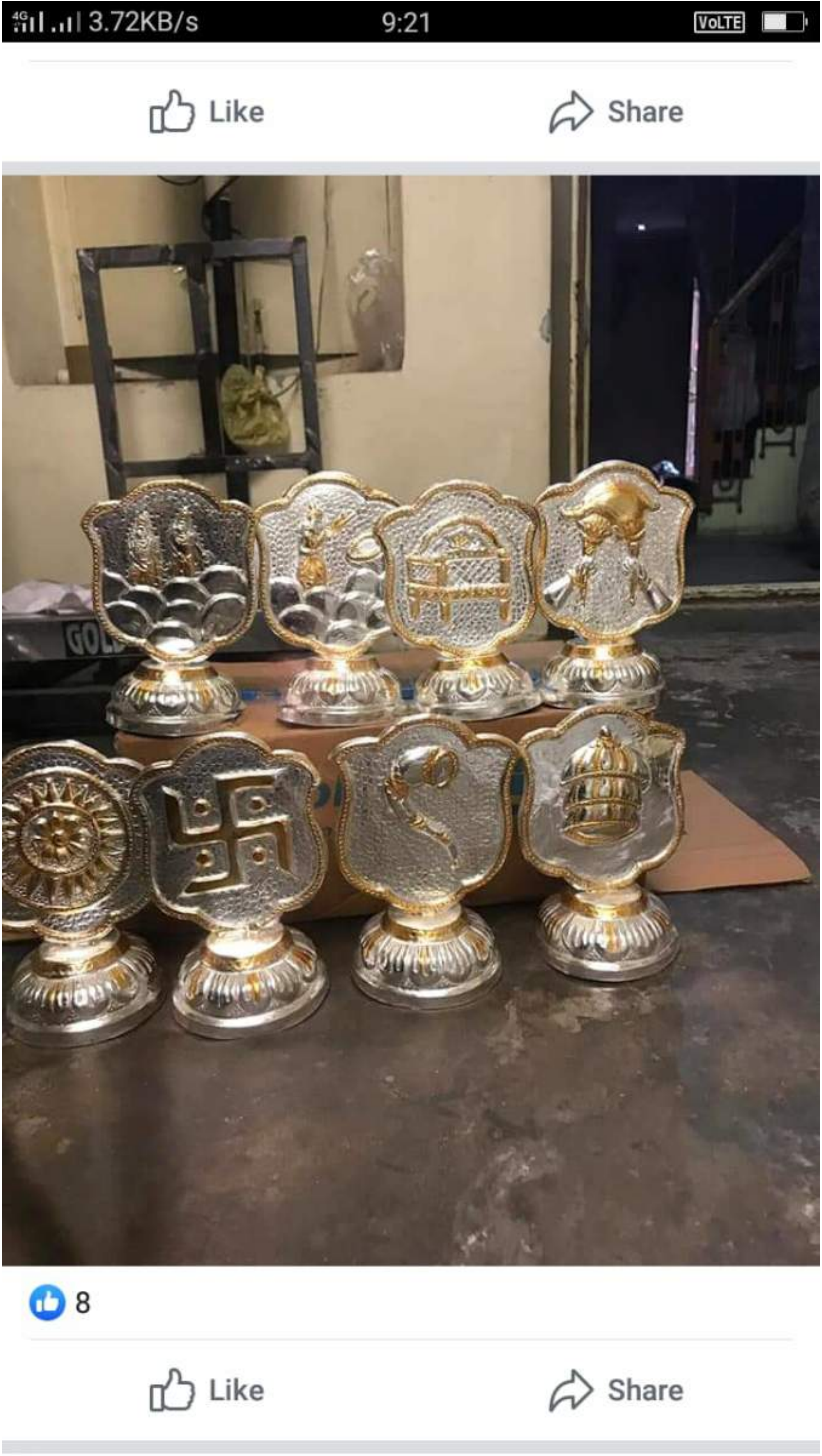
4G
3.72KB/s
9:21
VoLTE
Like
Share
8
Like
Share

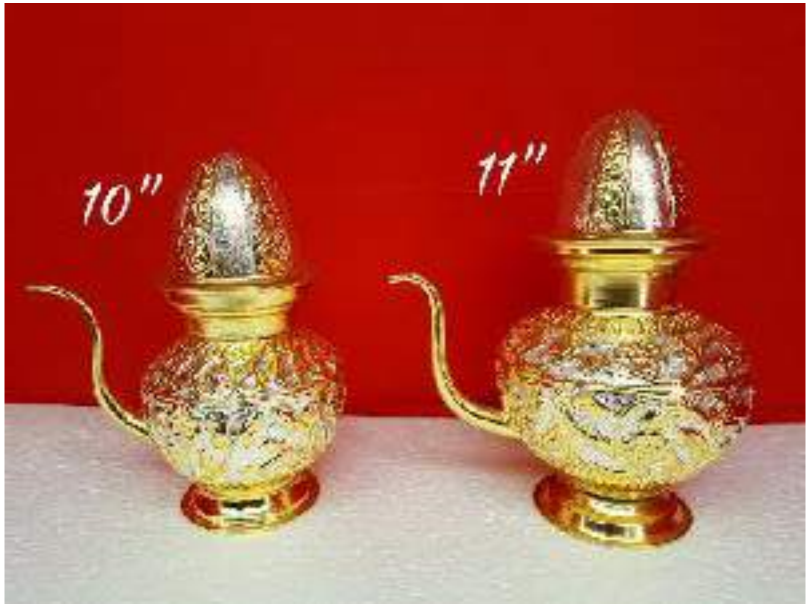
10"
11"

MILTON
REDMI NOTE 5 PRO
MI DUAL CAMERA

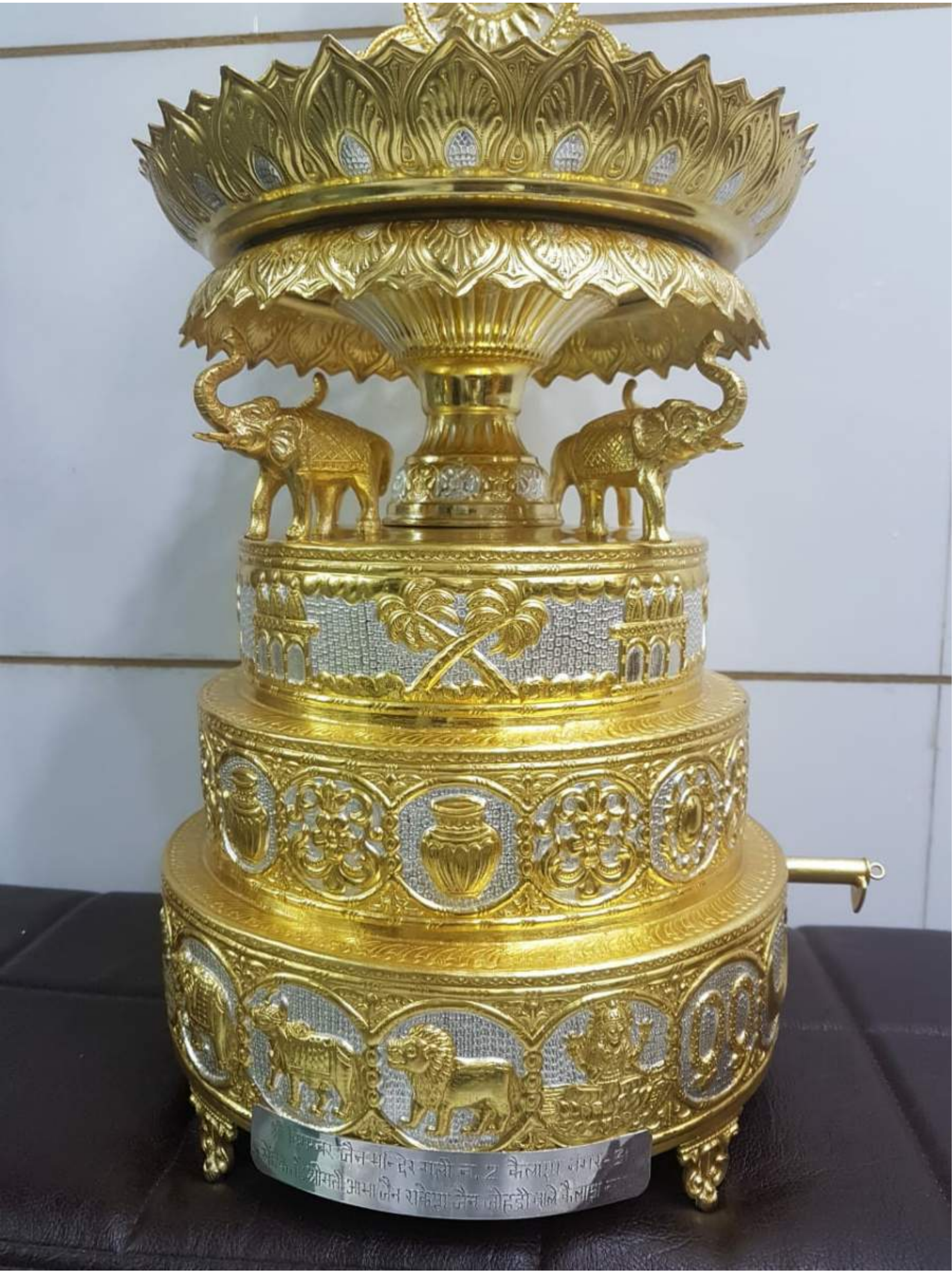
जैन मन्दिर गली न. 2 कैलाश
श्रीमती आभा जैन राकेश जैन

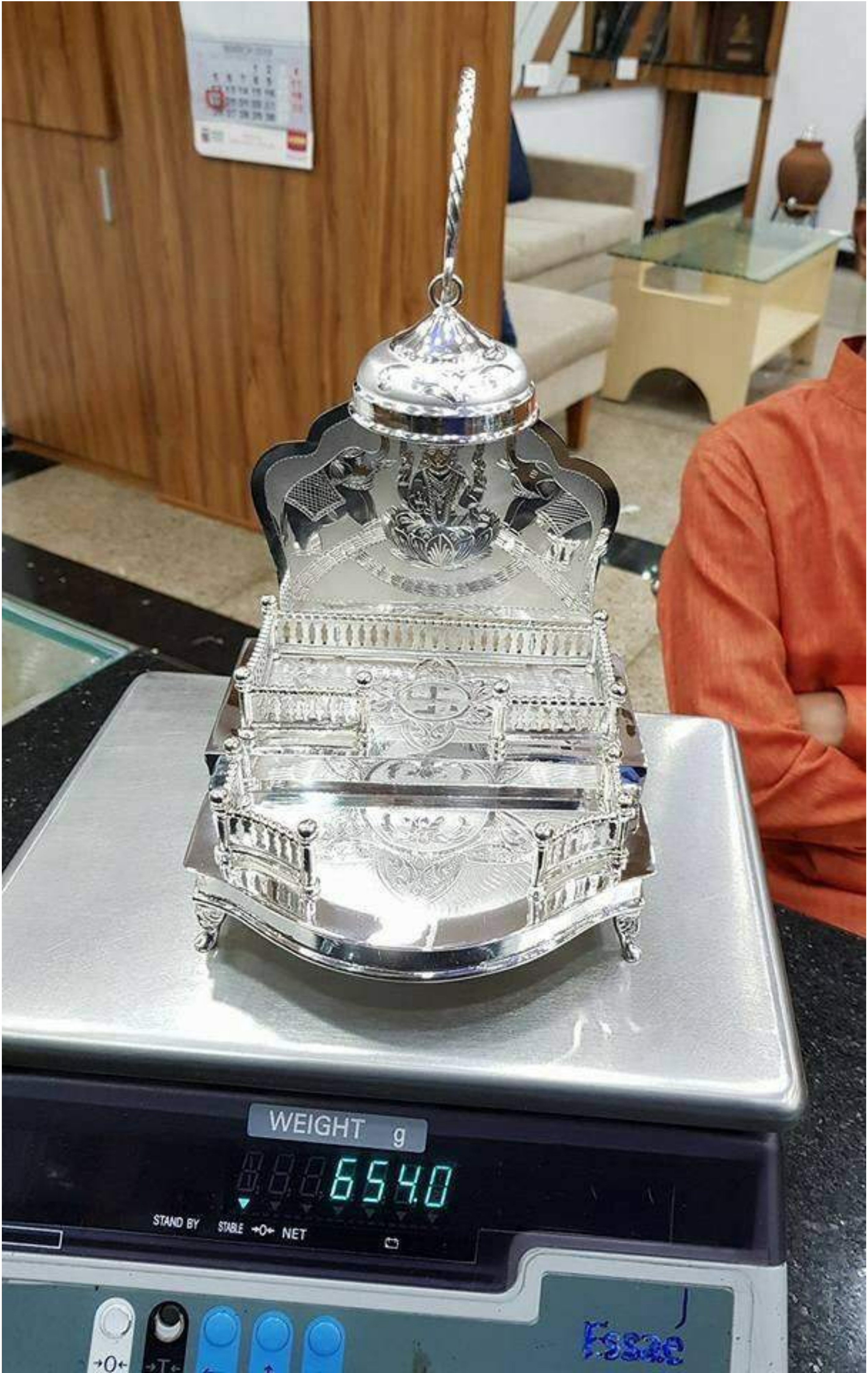
WEIGHT g
654.0
STAND BY
STABLE
→0←
NET
→0←
→T←
Essae

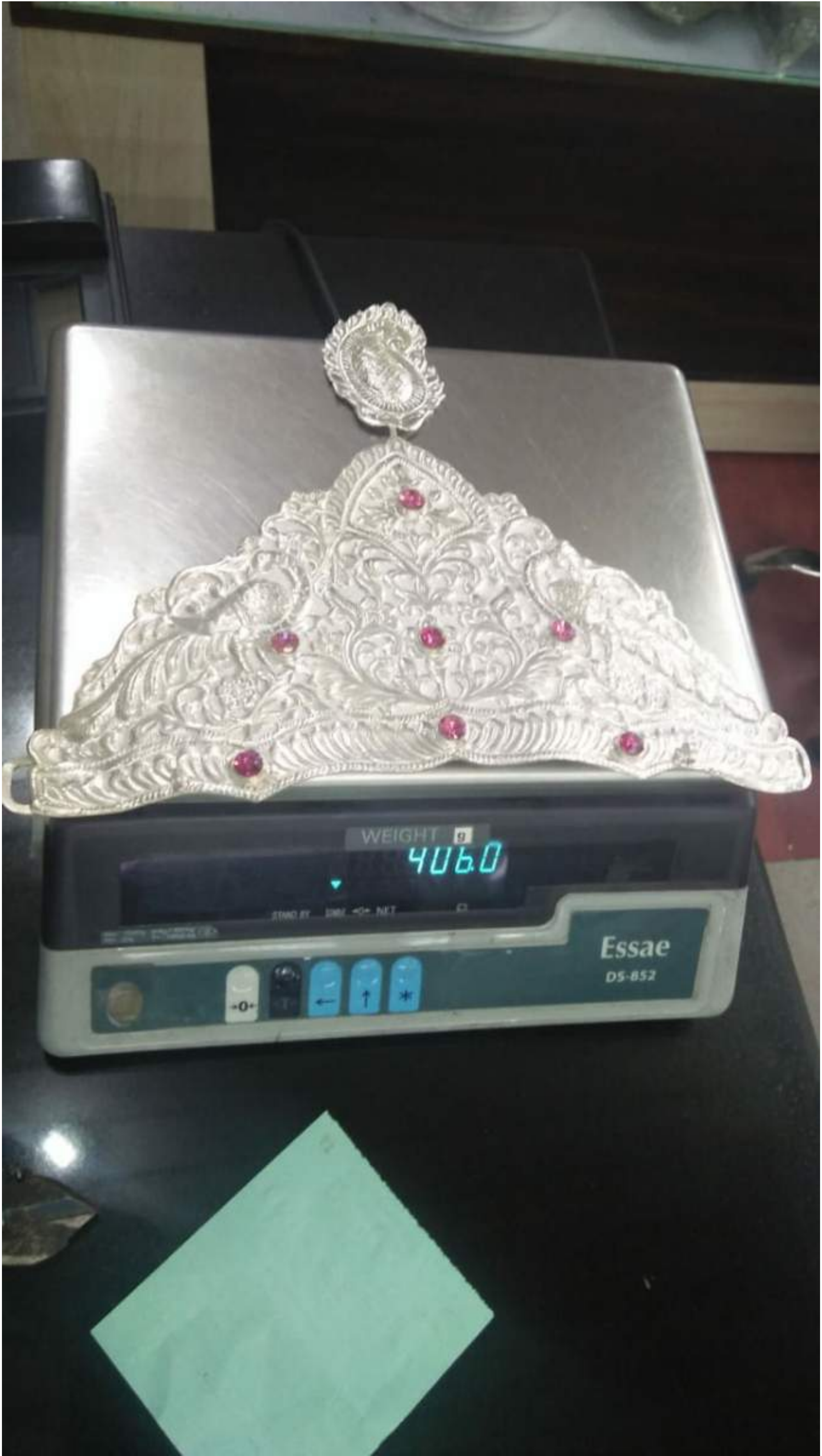
WEIGHT g
406.0
STAND BY ZERO →0← NET
Essae
DS-852
→0←

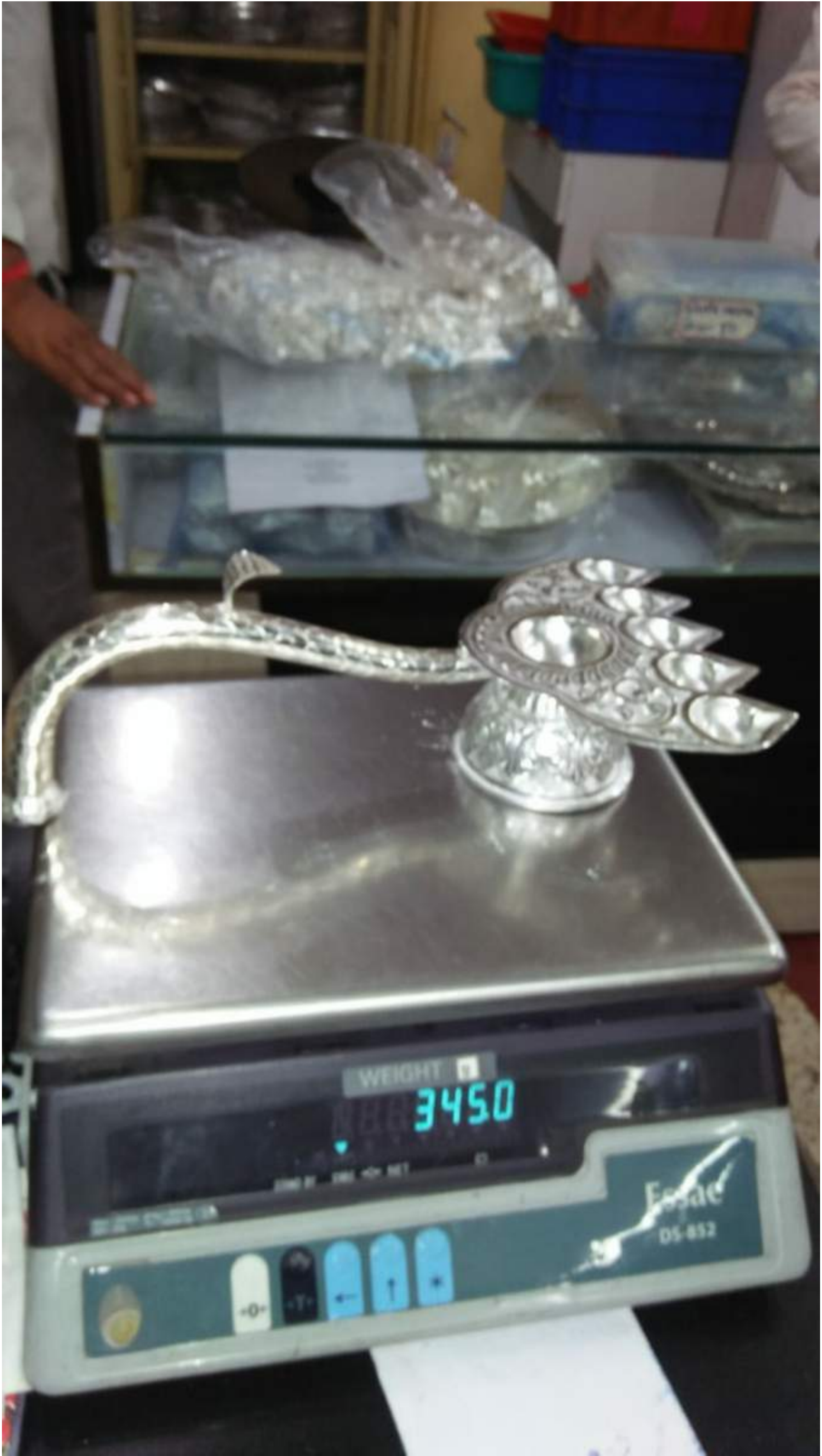
WEIGHT
3450
NET
Essae
DS-852

WEIGHT
42040
Essae
DS-852

PhotoGrid

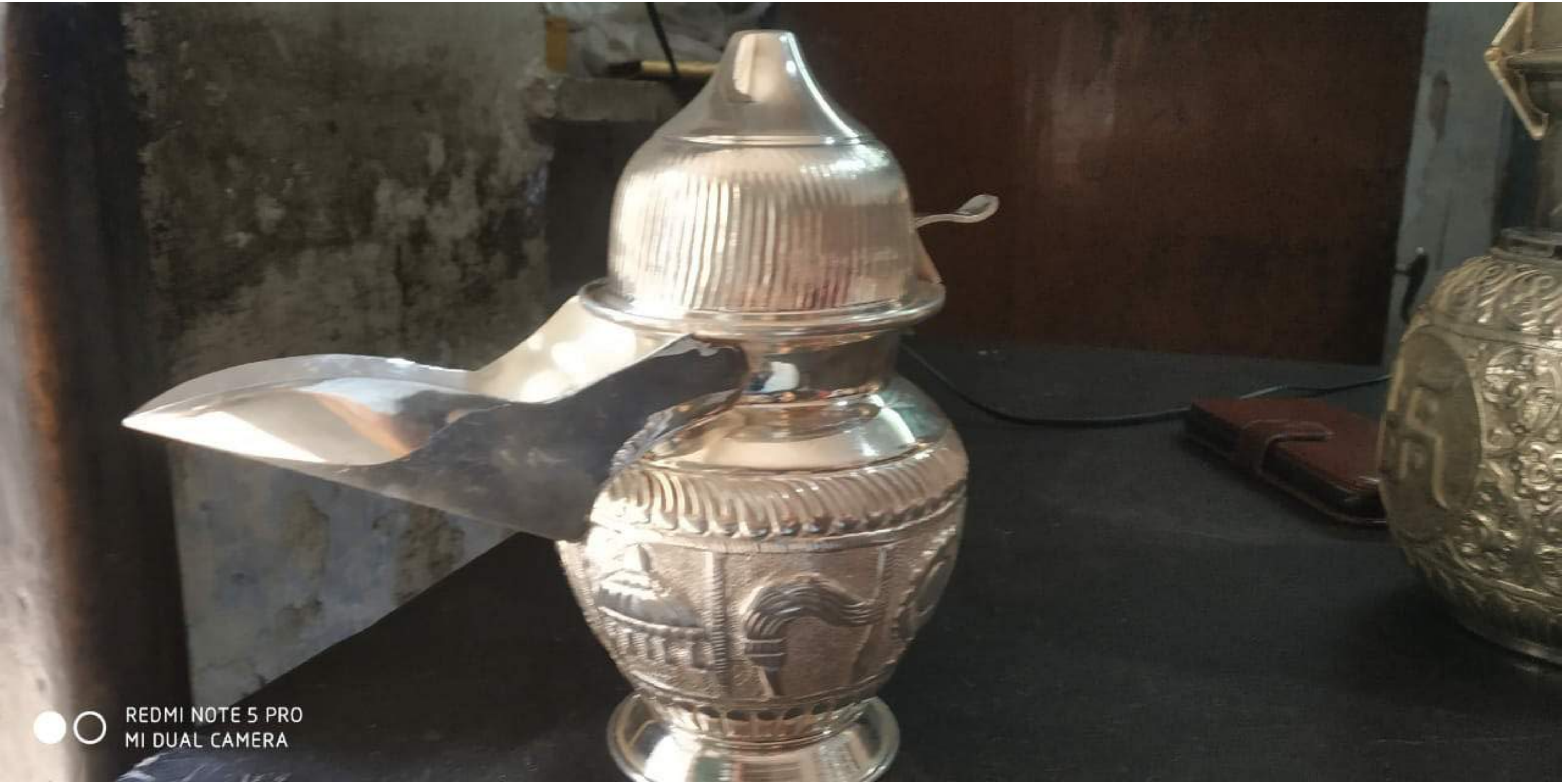
REDMI NOTE 5 PRO
MI DUAL CAMERA

5/03/03

Gopal Lal Dinesh Kum
Ankit Ag